देश-दर्शन



प्रकाशक
रामनारायण लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

मूल्य १॥)

प्रकाशक की ओर से

साहित्य जगत में यात्रा सम्बन्धी पुस्तकों का अधिक महत्त्व है। इस प्रकार की पुस्तकों में साहित्य के विद्यार्थी को कला और काव्य की ओर से भले ही निराशा हो सकती है, किन्तु एक ऐसे विद्यार्थी के मस्तिष्क और चेतना विकास के लिये प्रचुर साधन रहते हैं जो संसार और संसार के मनुष्यों की रीतियों-नीतियों से परिचित होता हुआ, प्रकृति का अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करना चाहता है। विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन के लिये ऐसी पुस्तकें अधिक उपयुक्त होती भी हैं। यही कारण है कि संसार के बड़े बड़े शिक्षा-शास्त्रियों ने विद्यार्थियों के लिये ऐसी पुस्तकें परम उपयोगी बनाई हैं।

संसार की अन्यान्य उन्नत भाषाओं में जहाँ ऐसी पुस्तकों का बाहुल्य है, वहाँ हिन्दी में अभी इस संबंध में प्रथम प्रयास का ही युग है। निसन्देह कुछ साधारण पुस्तकें हैं, किन्तु उनमें वे विशेषतायें नहीं, जो होनी चाहिये। हम इसी अभाव की पूर्ति की दृष्टि से इस छोटी सी पुस्तिका का प्रकाशन कर रहे हैं। इस यात्रा और पर्यटन संबंधी ऐसे वर्णनात्मक लेखों का चयन किया गया है, जो किसी भी विद्यार्थी के ज्ञानार्जन में अधिक सहायक हो सकते हैं। लेखों की भाषा भी बड़ी काव्यमय और प्रवाह पूर्ण है। भाषा और भाव की दृष्टि से, हाई स्कूल के विद्यार्थी बड़ी सरलता से उसका मथन करके उससे लाभ उठा सकते हैं। आशा है शिक्षा शास्त्री प्रयास के महत्व को समझ कर ज्ञानार्जन की दृष्टि से पुस्तक विद्यार्थियों के हाथ तक पहुँचायेंगे।

अन्त में उन लेखकों के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रगट कर रहे हैं, जिनके निबन्ध इस पुस्तक में संगृहीत हैं।

प्रकाशक

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—देवताओं के अंचल में	[श्री स० ही० वात्स्यायन	१
२—गंगा, जमुना के स्रोत सजल	[श्री बैजनाथ	१३
३—पाञ्चाल पथ	[श्रीमती सत्यवती मल्लिक	२०
४—हरिजनों की नदी	[श्री धर्मदेव शास्त्री	३४
५—मेरी कसौली यात्रा	[श्री गुलाबराय एम० ए०	३९
६—कैलास	[श्री 'मधुप'	४६
७—शिमला से	[श्री रघुवीर सिंह डी० लिट०	५१
८—जयपुर का गलता तीर्थ	[श्री हरिशंकर शर्मा ; श्रीमाली	६५
९—उदयपुर-यात्रा	[श्री दि० नेपाली बी० ए०	७४
१०—आदि भारत का संस्कृति-केन्द्र, मोहन-जो-दड़ो	[श्री सी० आर० राय० एम० ए० बी० एल०	८५
११—विजयनगर के स्मृति चिह्न	[श्री व्रजनन्दन शर्मा	९७
१२—मेरी मैसूर-यात्रा	[श्री रामेश्वरी नेहरू	१०७
१३—प्रयाग का म्युनिसिपल म्युजियम	[श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'	१२०
१४—काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा	[श्री ललिताप्रसाद सुकुल	१३०
१५—भारत-कला-भवन	[श्री राय कृष्णदास एम० ए०	१३८
१६—भारतमाता का मन्दिर	[श्री श्रीनाथसिंह	१४७
१७—दिल्ली की तीन संस्कृतियाँ	[श्री भानुसिंह बाघेल	१५३

देवताओं के अंचल में

रात ग्यारह बजे लाहौर से रेल में बैठा, तड़के चार बजे पठानकोट में गाड़ी बदल कर पालमपुर, काँगड़ा, बैजनाथ इत्यादि को लाँघता हुआ तीसरे पहर जोगेन्द्रनगर पहुँच गया। यहाँ पर मंडी हाइड्रो-इलेक्ट्रिक स्कीम का केन्द्र है—उहल नदी का पानी बाँध कर दो मील लम्बी सुरंग द्वारा बिजली घर तक लाया जाता है और वहाँ उससे इतनी बिजली पैदा की जाती है, जो पंजाब के कई ज़िलों के लिए पर्याप्त है। कारखाना और नदी के हेडवर्क्स दर्शनीय हैं, और वहाँ तक पहुँचने के लिए जिस रस्से से खिचने वाली ट्रॉली पर बैठ कर जाते हैं, उसकी सवारी भी एक चीज़ है; लेकिन यह सब मैं कई वर्ष पहले अपने छात्र-जीवन में देख चुका था, इसलिए फौरन ही मंडी जानेवाली मोटरकार में बैठकर मैं 'देवताओं के अंचल' कुलू की ओर बढ़ चला। पालमपुर से आगे खेतों की हरियाली और आकाश की नीलिमा देख कर लाहौर का अवसाद धीरे-धीरे मिटने लगा था; जोगेन्द्रनगर से कुछ पहले चीड़ के वृक्ष देख कर तबियत एकाएक फड़क उठी थी·······पृथ्वी-माता के आकाश की ओर उठे हुए इन अभयद हाथों के तले रहने का सौभाग्य जिसने पाया है वही जानता है कि चीड़ वृक्षों को देखकर ही हृदय में किस अनिर्वचनीय रस का संचार हो आता है...लारी में बैठा, तब चित्त प्रसन्न था—यहाँ तक कि लारी जब सड़क के उतार-चढ़ाव के कारण डोलने लगी और कभी-कभी सड़क पर से बहकर जाने वाले पहाड़ी झरनों के पानी में छप-छप करके स्वयं उछलने और कीचड़ उछालने लगी, तब मैं उस यात्रा का वर्णन करने के लिए तुकबन्दी की कड़ी-पर-कड़ी जोड़ने लगा। लारी के प्रत्येक दचके के साथ एक कड़ी और जुड़ जाती, तब मैं पूरी तुकबन्दी दुहरा लेता कि याद हो जाय और पड़ाव पर पहुँच कर लिख सकूँ।

लारी का इंजन गर्म हो गया, अगली सीट पर बैठे मेरे पैर जलने लगे। मैंने लौटकर पीछे देखा; लेकिन पीछे और बुरी हालत थी।

कई एक सवारियाँ वमन कर रही थीं—तीन-चार कै होने के बाद अब उन्हें इतनी सुध नहीं रही थी कि मुँह बाहर ही निकाल लिया करें। मैं फिर आगे देखने लगा, 'कविता' आगे नहीं चली। लेकिन जिस उद्देश्य से उतनी बनी थी, उसके लिए उतनी ही काफ़ी थी। मैं अपनी छोटी बहन को साथ नहीं ला सका था, तब उसने वचन लिया था कि रोज की सैर का वर्णन उसे लिखता रहूँगा।

चार घंटे की यात्रा के बाद हम लोग दिन छिपते मंडी पहुँच गए।

× × × ×

डाक बंगला दूर था; ड्राइवर ने बताया कि डाकघर के पास ही एक होटल है, और मेरा सामान कुली को उठवा दिया कि वहाँ ले जाय।

लकड़ी के दुमंजिले मकान की दूसरी मंज़िल में छज्जे का एक कोना लकड़ी के परदे द्वारा अलग कर दिया गया था। नसैनी से चढ़ कर वहाँ जाते थे। एक तरफ़ एक चारपाई किसी तरह अँटा दी गई थी, बाकी जगह एक दरी का टुकड़ा बिछा था, जो मैल और चिकनाई की जमी हुई पपड़ी के कारण 'लिनोलियम' बन गया था। किवाड़ कोई नहीं था।

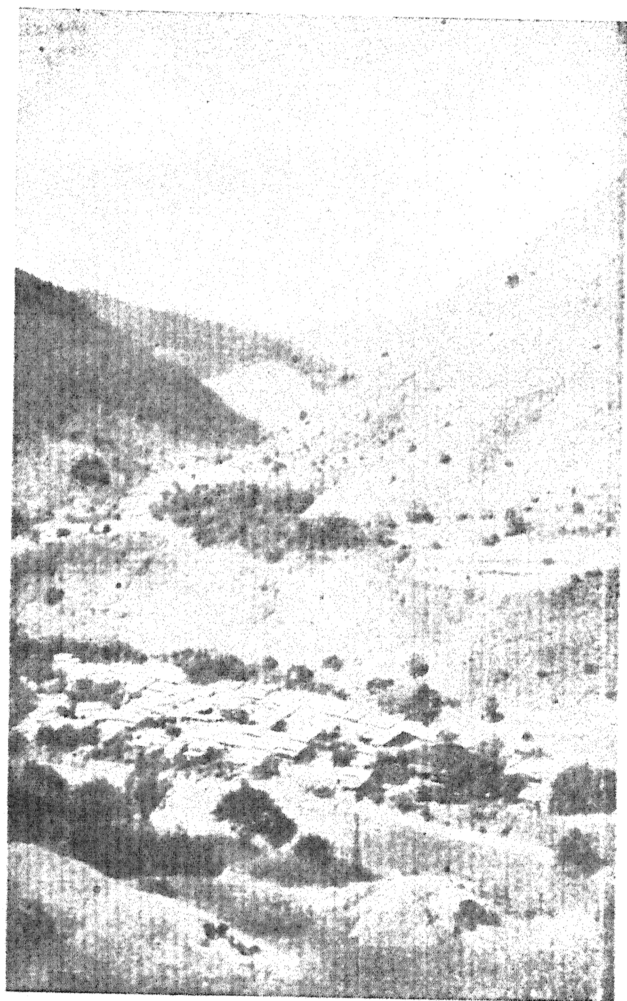
मैं कमरे के एक तरफ़ खड़ा हो गया। नीचे बाज़ार का चौक था। सामने मण्डी के महाराजों का पुराना महल, जहाँ अब कचहरी है। होटल का नौकर बिस्तर खोलने लगा। मैंने कहा—"क्या ज़रूरत है, यह दरी खुली है। यही बिछा दो। ठण्ड तो नहीं, चादर ओढ़कर सो रहूँगा।"

"बाबूजी, मोटा-सा बिस्तर बिछाइए। चारपाई में इतने खटमल हैं कि आप याद करेंगे।"

मैंने मुस्करा कर कहा—"अच्छा भई!"

× × × ×

बिस्तर पर लेटकर (बैठने से ऐसा मालूम होता था कि बीच बाज़ार में बैठा हूँ—आड़ तो कोई थी नहीं) मैं बहन को पत्र



कुल्लू का दृश्य

लिखने लगा। पत्र क्या, वह तुकबन्दी नक़ल करने लगा, जो राह में बनी थी :—

Up a khud and down a khud
Across a khud asplash in mud
This is the way to Ku-lu !

Towel, soap, and mirror too ?
But you've booked your luggage through,
Now you're in a pretty stew,
What's the use of grousing
'I'm a fool, Oo !'
Such is the way to Ku-lu !

O how happy I would be
With a steaming cup of tea
Down at home for you and me—
And Kulu might be blown to
H—l or Honolulu !
O the way to Ku-lu !

(इसमें अगला पद मैं नहीं दे रहा हूँ ; इतना कहना काफ़ी है कि उसमें कुलू से उल्लू की तुक मिलाई गई थी।)

कुछ खटका-सा हुआ, तो मैंने आँख उठाकर देखा। कमरे के प्रवेश-मार्ग के सामने दो छोटी-छोटी लड़कियाँ खड़ी थीं। दोनों की बाहों पर छोटी-छोटी फूलों से भरी हुई डालियाँ थीं।

मैंने कुछ विस्मित होकर पूछा—"क्या है ?" बिना बोले वे मेरी ओर बढ़ आईं। एक-एक मोतिये का महकता हुआ गजरा दोनों ने मेरे गले में डाल दिया, फिर अपने पहले स्थान पर जाकर खड़ी हो गईं।

मुझे अच्छा-सा लगा। पिछले पाँच सालों में जितने अलंकार मैंने जाने थे, सब लोहे के ही बने हुए थे। मेरा जी नहीं हुआ कि पैसे देकर उस मधुर घटना को नष्ट करूँ।

लेकिन ऐसी घटनाएँ बनी ही रहें, तो सही नहीं जातीं। किसी तरह तोड़ना ही होता है उन्हें।

मैंने पूछा—"तुम लोग कौन हो!"

उन्होंने एक साथ ही उत्तर दिया—"बाबूजी, हमने फूल दिए हैं।"

मुझे लगा कि यह उत्तर असंगत है ; लेकिन तत्काल ही मैं समझ गया कि फूलों का मोल चुकाना होगा। मैंने हाथ बढ़ाकर सिरहाने पड़े हुए बटुए में से दो एकन्नियाँ निकालीं। एक लड़की को इकन्नी दी, तो वह कुछ घबड़ाकर कहने को हुई 'भान नहीं है'—लेकिन जब उसने देखा कि दूसरी लड़की अलग इकन्नी पा रही है, तब एकदम से खिल उठी, और दोनों भाग गईं।

मैंने फिर चिट्ठी उठाई, लेकिन लिखने को मन नहीं हुआ। मैं लेटा हुआ पिछले पाँच नष्ट हुए वर्षों की बात सोचने लगा—नष्ट ही हुए तो वे! मेरे मस्तिष्क ने निस्सन्देह उनसे बहुत लाभ उठाया, लेकिन अनुभूति—मुझे लगता है कि अनुभूति का मैं दीवालिया हो गया हूँ...

× × ×

सबेरे उठते ही सुना, रियासत का बैण्ड सूर्योदय का स्वागत कर रहा है। मण्डी के राजा सूर्यवंशी हैं, अतः जब वे मण्डी में होते हैं, तब सायंप्रातः सूर्य की बिदाई और स्वागत के लिए बैण्ड बजता है। जल्दी-जल्दी बिस्तर बाँधकर कुली के सिपुर्द किया, होटल के पैसे चुकाए—भोजन के पाँच आने, कमरे के आठ—शहर का एक चक्कर लगाकर उड़ती हुई निगाह से व्यास नदी के तट पर बने हुए बीसियों सुन्दर देवस्थान देखे और ऊपर पहाड़ पर बना हुआ क़िला जिसमें मण्डी के राजा अपनी 'अविश्वासनीया' रानियों को क़ैद कर दिया करते थे, और फिर मोटर में आ बैठा।

× × ×

'यहाँ से देवताओं का अंचल आरम्भ होता है,' इसका बड़ा बढ़िया प्रमाण यह मिला कि मानवों की सृष्टि मोटर को देवताओं

की सृष्टि मानव के पीछे-पीछे चलना पड़ा। मण्डी से कुलू-प्रदेश में जाते हुए व्यास नदी का एक रस्सी का पुल (Suspension Bridge) पार करना पड़ता है, उस पर से लारी का जाना खतरनाक है। लारी चार मील की रफ़्तार से तेज़ न चले, इसका प्रबन्ध यह किया गया है कि पुल का चौकीदार अपनी पीठ पर एक तख्ता टाँगे (जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—'चार मील रफ़्तार! इस आदमी के पीछे-पीछे इसी की चाल से चलो!') आगे-आगे चलता है और मोटर उसके पीछे चलती है! पुल के दोनों ओर पहरा पड़ा रहता है कि चौकीदार की अनुमति के बिना कोई आर-पार न जा सके।

दस बजे के क़रीब हम लोग औट पहुँचे। यहाँ से एक सड़क शिमला जाती है। पहले यह मार्ग पैदल चलने वाले साहसिक लोगों के लिए बड़ा भारी आकर्षक था; लेकिन अब पक्की सड़क बन जाने से शिमला के फ़ैशनेबल सैलानी 'वीक-एण्ड' बिताने के लिए मोटर में बैठकर सीधे मनाली आ जाते हैं। आस-पास का सौन्दर्य अब भी वही है, लेकिन चमत्कार नष्ट हो गया है।

और कुछ आगे से एक मार्ग मणिकर्ण भी जाता है। मणिकर्ण तीर्थस्थान है। यहाँ गर्म पानी के कई कुण्ड हैं, जिनकी उष्णता अलग-अलग है। कोई नहाने के लिए ठीक हैं तो किसी में चावल उबाले जा सकते हैं।

व्यास नदी के किनारे-किनारे सुन्दर किन्तु कहीं-कहीं खतरनाक सड़क पर बढ़ते हुए हम लोग बारह बजे कुलू पहुँच गए।

× × ×

कुलू प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गहवारा है। यहाँ प्रत्येक कस्बे और ग्राम के अपने-अपने देवता हैं, जो अपने-अपने मन्दिरों में बैठे हुए ही लोगों की पूजा पाते हैं और साल में एक बार अपने-अपने रथों में बैठ कर कुलू के रघुनाथ-मन्दिर में प्रतिष्ठित राम की उपासना के लिए जाते हैं। सैकड़ों देवी-देवताओं और उनके मन्दिरों के कारण, और इस विराट देव-सम्मेलन के कारण ही, कुलू-प्रदेश का नाम

देवताओं का अंचल (Valley of the Gods) पड़ा है। ये सब असंख्य देवी-देवता और ऋषि-मुनि यहाँ के आदिम निवासियों के द्वारा पूजे जाते थे। वे आर्य थे या नहीं, इस बात का झगड़ा यहाँ नहीं है, लेकिन आर्यधर्म के जिस रूप को हिन्दू-धर्म के नाम से हमने जाना, वह यहाँ विजेता के रूप में आया। जब बाहर से आये हुए विजेता यहाँ शासक बनकर बस गए, तब जिस तरह वे यहाँ के माण्डलिक राजाओं या सरदारों से अपना आधिपत्य मनवाने लगे, उसी तरह यहाँ के देवी-देवताओं से भी अपने अधिदेवता राम की अधीनता स्वीकार कराने लगे। यहाँ पर दशहरे के दिन विजयी राम का जो उत्सव होता है, जिसमें आस पास के सब देवी-देवता रथों में बिठाकर लाए जाते हैं, उसमें मुझे इसी प्राचीन विजय का सांकेतिक रूप दीखता है। जिस तरह मुहावरे में कहते हैं—'देवता कूच कर गए', उसी तरह देवताओं का अधीनत्व शायद उन देवताओं को पूजने वाली जाति के अधीनत्व का संकेत माना गया। रामायण में लंका-विजय के बाद देवताओं का अपने-अपने विमानों में बैठकर 'सलामी देने' आना भी यही भाव व्यक्त करता है। ख़ैर कुछ भी हो, इस विराट उत्सव में, ऐसा सुनने में आता है, हजार-हजार तक देवता शामिल होते हैं।

इस प्रथम विजयी जाति के आक्रमण के बाद शायद और आक्रमण इधर नहीं हुए, क्योंकि यहाँ पर हिन्दू-धर्म का जो रूप मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। विजेताओं की राम पूजा और विजितों की देव-पूजा में एक समन्वय हो गया, वही अब तक कायम है। कुलू-प्रान्त में व्यास-कुण्ड, व्यास-मुनि, वसिष्ट आदि ऋषि-मुनियों के स्थान हैं, पाण्डवों के मन्दिर हैं, भीम पत्नी हिडिम्बा 'देवी' भी पूजा पाती हैं और सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह कि वहाँ पर 'मनु रिखि' या मनु भगवान् का भी एक मन्दिर है। शायद भारत में यह एक मात्र स्थान है, जहाँ मानवता का यह स्वयंभू आदिम प्रवर्तक मन्दिर में प्रतिष्ठित हो और पूजा पाता हो।

दशहरे के अवसर पर यहाँ बड़ा भारी मेला भी लगता है। साल

भर का व्यापार प्रायः इस एक दिन में ही हो जाता है—बाहर से आए हुए यात्रियों के लिए बनी हुई देशी-अंगरेजी दूकानों और कुछ होटलों या पंसारी हाट की बात अलग है—इसलिए यहाँ पर ग्राहक और विक्रेता दोनों ही बड़ी उमंगें लेकर आते हैं। रंग-बिरंगे कम्बल, पट्टू-पट्टियाँ, पश्मीना, 'चरू' * और अन्य प्रकार की खालें—रीछ की, मृग की, बाघ की, कभी-कभी बर्फ के बाघ (Snow leopard) की—तरह-तरह के जूते, मोजे, सिली-सिलाई पोशाकें, टोपियाँ, बाँसुरी, बर्त्तन, पीतल और चाँदी के आभूषण, लकड़ी, हड्डी और सींग की कंघियाँ, देशी और विदेशी काँच, बिल्लौर और पत्थर के दानों के हार—न-जाने क्या-क्या चीजें वहाँ आती हैं और देखते-देखते बिक जाती हैं—दिन-भर में हजारों की सम्पत्ति हाथ बदल लेती है...... तमाशे होते हैं, नाच होते हैं, गाना-बजाना होता है, जगमगा रोशनी होती है।

और न-जाने कितनी लुगड़ी (देशी शराब) पी डाली जाती है!

× × × ×

उस दिन कुलू में दो घंटे ठहरे। भोजन किया और फिर लारी में बैठकर आगे बढ़े। मनाली—देवताओं के अंचल का ऊपरी छोर—कुलू से २३ मील है। अध बीच में कटराईं की बस्ती है। यहाँ एक मिडल स्कूल है, जिसके हेड मास्टर साहब एक पंजाबी आर्यसमाजी थे। मोटर स्कूल के सामने ही खड़ी हुई थी, उतरने पर अकस्मात् उनसे सामना हो गया और बात-बात में परिचय भी हुआ। उन्होंने स्कूल दिखा दिया। जिस तरह विपरीत परिस्थितियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्होंने स्कूल स्थापित किया और चलाया था, उसकी बात सुनकर मन में श्रद्धा हुई; लेकिन जो पढ़ाई हो रही थी, उसकी जरूरत का कायल मैं नहीं हो सका। बानगी देखिए ;—

---

* गर्भवती भेड़ का पेट चीरकर निकाले गए बच्चे की खाल। बहुत मुलायम और गर्म होने के कारण शौकीन लोगों में इसकी बहुत माँग रहती है।

मास्टर साहब—"लड़को, पाँच ऊँगलियों को पंजा कहते हैं।"
लड़के (एक साथ चिल्लाकर)—"पंजा!"
मास्टर—"क्या कहते हैं?"
लड़के (उसी प्रकार)—"पंजा!"
मास्टर—(वही प्रश्न)।
लड़के—(वही उत्तर)।
ऐसे बीस बार। फिर एक लड़के से अलग प्रश्नोत्तर—
मास्टर—"तुम्हारे हाथ में कितनी उँगलियाँ?"
लड़का—"पाँच।"
मास्टर—"क्या कहते हैं?"
लड़का—"पंजा!"
फिर सारे क्लास से—
मास्टर—"क्या कहते हैं?"
सब लड़के—"पंजा!"

फिर दूसरे लड़के से यही क्रम। इस प्रकार पूरे क्लास से। बस, पीरियड समाप्त, छुट्टी।

× × ×

व्यास नदी के बहाव के कारण जो भूमि कटकर समतल हो गई है, उसमें कटराई सब से सुन्दर है। यहाँ घाटी खूब चौड़ी हो गई है, और किसी तरफ भी कुछ ऊपर चढ़कर देखने से फैले हुए धान के खेतों और बीच-बीच में सेब, नाशपाती, खुमानी, आड़ू, आलूचे और गिलास के पेड़ों का बहुत ही मनोरम दृश्य दीख पड़ता है। 'ट्राउट' मछली के शिकार के लिए भी यह स्थान बहुत अच्छा है, इसलिए यहाँ से कुछ मील ऊपर तक व्यास के किनारे-किनारे तम्बू डाले कई एक अँगरेज लोग नदी-कूल पर बैठकर ऊंघा करते हैं और सब्र का सबक़ पढ़ा करते हैं, या कभी सोचा करते हैं कि वापस लौटकर जब वे लोगों को शिकार की बात सुनाएँगे, तब कितनी बड़ी मछली पकड़ लेने में अपनी सफलता पर उनका विश्वास दिला सकेंगे। जानी हुई बात है

कि ट्राउट के शिकारियों में सौ में से निन्नानवे नौ इंच से बड़ी मछली नहीं पकड़ते और सौवाँ झूठ कहता है ?

× × ×

कटराईं से दो मील चढ़ाई चढ़कर नगर जा सकते हैं। नगर में कुलू राज्य की पुरानी राजधानी है। पुराने राजाओं के महल इत्यादि अनेक दर्शनीय इमारतें और कुछ प्राचीन मन्दिर भी हैं। महादेव का एक प्राचीन मन्दिर अपने सौन्दर्य के लिए खासतौर से दर्शनीय है। रूसी कलाकार रोरिक द्वारा स्थापित हिमालयन रिसर्च इन्स्टिट्यूट भी यहीं है। यह संस्था रोरिक के भाई डाक्टर जार्ज डि रोरिक की देख रेख में हिमालय की भाषाओं, जातियों, लोक-साहित्य और वनस्पतियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करती है। स्वयं रोरिक भी अक्सर वहीं रहते हैं, यद्यपि जब-तब वे दूर देशों की सैर को भी चल देते हैं।

कटराईं से मनाली तक का पुराना रास्ता नगर और जगतसुख होकर जाता था—कटराईं में व्यास नदी पार की जाती थी और मनाली के नीचे फिर वापस पार हो जाते थे। लेकिन अब मोटर की सड़क दूसरे किनारे के साथ-साथ ही सीधी मनाली जाती है और नगर उसके अलग पड़ गया है। सुभीते के लिहाज से चाहे जैसा हो, सौन्दर्य-रक्षा के लिए यह बहुत अच्छा हुआ है। मनाली से नगरवाली कच्ची सड़क उस तरफ की सब से लम्बी सैर है। ऊँच-नीच भी बहुत अधिक नहीं है, और दृश्य तो हर एक मोड़ पर ऐसा सुन्दर दीखता है कि कहा नहीं जा सकता। एक ओर उठते हुए चीड़ के जंगल की गलियाँ, दूसरी ओर खुली हुई तराई में लहराते हुए धान खेतों के मखमली आँगन—न जाने किस रहस्यमय की नीरव पद-चाप हर समय उसमें एक हिलोर-सी उठाती रहती है! इसी सड़क पर जगतसुख गाँव में भी कई एक दर्शनीय प्राचीन मन्दिर हैं, जिनमें हिन्दू-युग के कलाकारों की कारीगरी अभी तक ज्यों की त्यों बनी है।

कटराईं से चलकर मोटर कलाथ होती हुई मनाली जा पहुँची। कलाथ में गर्म पानी का एक कुण्ड है, जिसमें गन्धक और अन्य

रसायन काफ़ी मात्रा में होते हैं। यूरोप में कहीं ऐसा कुएड होता, तो यहाँ स्नान के लिए स्थान और सफाई का प्रबन्ध होता ; लेकिन यहाँ पर आम तौर पर पहाड़ी औरतें अपने कपड़े धोती दीखती हैं— ऊनी कपड़ों के लिए ऐसी बढ़िया 'लाएड्री' और कहाँ मिलती ?

× × ×

मनाली या मुनाली ने यह नाम मुनाल नामक पक्षी से पाया, जो यहाँ बहुतायत से होता है। हिमालय की फ़ेजेन्ट (pheasant) जाति का यह पक्षी अत्यन्त सुन्दर होता है। इसके सम्बन्ध में यहाँ के लोगों में कई किंवदन्तियाँ भी सुनने में आती हैं।

लेकिन समतल भूमि पर रहने वाले लोग मनाली को वहाँ के सेबों के कारण ही जानते हैं। सेब और नाशपाती के लिए मनाली शायद संसार में सब से बढ़िया स्थान है। यहाँ के फूलों के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं होता, न उस ढंग का संगठित काम होता है, जैसा कि अमेरिका के केलिफोर्निया आदि फलप्रद इलाकों में ; फिर भी यहाँ के सेब यहाँ के बग्गू (एक विशेष प्रकार की नाशपाती) और यहाँ के गिलास (cherry) अपना सानी नहीं रखते। सिर्फ़ मीठे को ही स्वाद गिनने वाले लोग काश्मीर के अमरी सेबों को पसन्द करते हैं ; लेकिन कुलू के खटमिट्ठे खस्ता सेब, जो मनाली में होते हैं, अपने विशेष स्वाद और खुशबू से जो अपूर्व रस पैदा करते हैं, उसकी तुलना किसी चीज़ से की जा सकती है, तो अनिर्वचनीय काव्य-रस से ही। अभी हाल में कुछ ध्यान अन्वेषण और प्रयोग की ओर भी जाने लगा है, और इसका एक परिणाम यह हुआ है कि जापानी परसिमन यहाँ पर पैदा होने लगा है। कहते हैं कि शीघ्र ही मनाली का 'जापानी-फल' जापान को मात कर देगा।

मनाली की दो बस्तियाँ हैं। एक तो बाहर से आकर बसे हुए लोगों द्वारा बनाए हुए बँगलों और बाज़ार वाली बस्ती, जो दाना कहलाती है, और दूसरी उससे क़रीब मील भर ऊपर चल कर खास मनाली गाँव की। मोटर दाना तक जाती है। दाना से सड़क फिर व्यास नदी पार करके रोहतंग की जोत (Rohtang Pass) से होकर

लाहौर को चली जाती है। इसी मार्ग पर मनाली से दो मील की दूर पर वसिष्ट नाम का गाँव है, जहाँ गर्म पानी के कुंड हैं और वसिष्ट का मन्दिर भी है। कहते हैं कि वसिष्ट ऋषि यहीं तपस्या करते-करते पाषाण हो गए थे; पाषाण-मूर्ति वहाँ पूजी भी जाती है। यहाँ के पानी में गन्धक की मात्रा काफ़ी है, और वह स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा है।

रोहतंग की जोत पर ही व्यास-कुण्ड है। यहाँ से कुछ मील हटकर व्यास मुनि का स्थान है, जहाँ से व्यास नदी का उद्गम है। रोहतंग का मार्ग बहुत रमणीक है। व्यास नदी के वेग से किस तरह पहाड़-के-पहाड़ कट गए हैं, यह भी देखने की चीज़ है। कहीं-कहीं तो नदी एक आठ-दस फ़ुट चौड़ी दरार में चार-पाँच सौ फ़ुट नीचे जाकर अदृश्य हो गई है, केवल स्वर सुन पड़ता है इसका कारण यह है कि व्यास नदी बहुत तीव्र गति से नीचे उतरती है—अपने मार्ग के पहले पाँच मील में वह जितना नीचे उतर आती है, उतना अगले पचास मील में नहीं और उसके बाद के पाँच सौ मील में नहीं। समुद्रतल से व्यास मुनि की ऊँचाई पन्द्रह हज़ार फ़ुट है, दाना की साढ़े छः हज़ार—यानी आठ मील में व्यास नदी आठ हज़ार फ़ुट उतर आती है। (सड़क से रोहतंग पास दाना से तेरह मील है, नदी का मार्ग छोटा है।) रोहतंग की जोत के दूसरी पार कोकसर पड़ाव है। यहाँ जाते हुए बर्फ़ के सौन्दर्य का जो दृश्य दीखता है, मैंने दूसरा नहीं देखा। उसका न वर्णन हो सकता है, न चित्र खिंच सकता है। कुछ मीलों के दायरे का एक प्याला-सा बना हुआ है, उसके सब ओर ऊँची-ऊँची हेमावृत चोटियाँ, उससे कुछ नीचे पहाड़ों के नंगे काले अंग, और प्याले के बीच में फिर बर्फ़ से छाया हुआ मैदान—मानो अभिमानी पर्वत सरदारों ने अपना शीश और कटि-प्रदेश तो ढक लिया है; लेकिन छाती दर्प से खोल रखी है... इस स्थान से तीन नदियों का उद्गम है, ऊपर से व्यास, मध्य से चन्द्रा और भागा, जो आगे चल कर मिल जाती हैं। लेकिन रोहतंग की यात्रा का और कुलू-प्रदेश के अपने दूसरे विचित्र अनुभवों का वर्णन हम अलग लेख में करेंगे।

दाना के दूसरी ओर पहाड़ के ढलान पर चीड़ के जंगल में हिडिम्बा देवी का मन्दिर है। एक चीड़ वृक्ष के तने के आसपास बना हुआ यह लकड़ी का सतमंजिला मन्दिर दर्शनीय है। इसके द्वारों पर जो नक्काशी का काम है, वह कई सौ बरस पुराना है। एक पट्टे पर लेख भी खुदा हुआ है। मन्दिर से मनाली की ओर जाते हुए मार्ग दो चट्टानों के बीच होकर गुजरता है, जो अपने आकार के कारण 'देवी का चूल्हा' के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि यहाँ हिडिम्बा देवी मनुष्य भून-भून कर अपना भोजन तैयार करती थीं। मनाली की बस्ती के ऊपरी छोर पर मनु-ऋख का मन्दिर है। यह छोटा है, विशेष सुन्दर भी नहीं है; लेकिन मनु का एकमात्र मन्दिर होने के कारण विशेष महत्व रखता है।

मनाली स्थिति के कारण ही नहीं, सौन्दर्य के कारण भी देवताओं के अंचल का सुनहला ऊपरी छोर है। दृष्टि-क्षेत्र में सीखचे-ही-सीखचे देखने की आदी मेरी आँखें इस विराट् सौन्दर्य को पीती जाती थीं और मानो अपने पर विश्वास नहीं कर पाती थीं.........सीखचों का संस्कार इतना गहरा पड़ गया था कि मैं बाहर बिखरी हुई सौन्दर्य-राशि को देख कर भी भीतर से पुरानी-पुरानी बन्दी-जीवन की स्मृतियाँ निकालता जाता था—जैसे शाही पोशाक में लिपट कर भी भिखमंगा अपनी फटी हुई और थिगरों से भूषित गुदड़ी को नहीं भूलता। लेकिन मनाली ने मानो उन स्मृतियों पर अपनी छाप डाल दी—वे अपने-आप में कटु स्मृतियाँ मानों सुन्दरता के एक ढाँचे में ढल कर निकलने लगीं। पहले ही दिन मैंने पाया कि 'Prison Days and Other Poems' नाम के एक आगमिष्यन् कविता-संग्रह का सूत्रपात हो गया है! (और जब मैं महीने-भर बाद लौटा, तब वह पूर्ण-सा हो चुका था।)

लेकिन मुझे उपन्यास लिखना था। मैंने मकान के छज्जे पर मेज़ कुरसी डाल ली, पुराने लिखे और टाइप किये हुए काग़ज़, हाथ से घसीटे हुए नोट और ढेर से फुलस्केप काग़ज़ सामने रख लिए।

पर आँखें भटकने लगीं। कभी बाहर दूर भागते हुए बादलों पर

और शान्त भाव से उन्हें देखते हुए गम्भीर चीड़ वृक्षों पर, कभी निकट की 'बाउड़ी' पर पानी भरती हुई स्वस्थ बेधड़क राजपूतनियों पर, कभी अपने ही मकान की बाहरी दीवार पर, जिस पर पिछले वर्ष का एक 'शिलालेख' अभी तक बना ही हुआ था—

'—,—, and—spent six memorable days and nights here, 11th to 17th July 1934—अमुक-अमुक व्यक्तियों ने छः स्मरणीय दिन और रातें यहाँ पर बिताईं, ११ से १७ जुलाई, १९३४।"

'स्मरणीय' ? यहाँ का एक-एक क्षण आत्मा पर अपनी एक अमिट छाप डालता हुआ चला जाता है.........

अगले दिन प्रातःकाल ही देवताओं के अंचल में बैठे हुए एक क्षुद्र मानव ने पाया कि वह भी देवों का समकक्ष हो गया है, स्रष्टा हो गया है : वह लिखने लगा........।

——स० ही० वात्स्यायन

गंगा, जमुना के स्रोत सजल

जब भी कोई भारतवासी पुण्य सलिला भागीरथी और भगवती कालिन्दी के दर्शन करता है उसका हृदय युगों की संचित आध्यात्मिक अनुभूतियों से भर जाता है। अपने बाल्यजीवन से लेकर कितनी ही बार यह कल्पना की थी कि कब वह शुभ दिन आयेगा जब हम हिमालय के उन गम्भीर प्राणस्थलों को देख सकेंगे जहाँ से ये भारत माँ को गौरव प्रदान करने वाली पवित्र धारायें निकली हैं। गंगा और यमुना के श्रोत देखने की आकांक्षा बचपन से ही हृदय में प्रबल थी। अन्त में ऐसा अवसर आ भी गया।

एक शुभ दिन अपने अन्य पाँच मित्रों के साथ हम लोग हरिद्वार से १४ मील ऊपर ऋषिकेश में इकट्ठा हुए। साथ में कठिन यात्रा का सारा साज सरंजाम किया और वहाँ से मोटर द्वारा देव प्रयाग के लिए रवाना हुये। ऋषिकेश से देव प्रयाग ४४ मील दूर है और गाड़ियाँ मोटर आदि यहाँ तक ही जा सकती हैं। इसके बाद हिमालय

की कठिन यात्रा पैदल या टट्टू पर ही की जा सकती है। रास्ते में लछमन झूला का लटकता हुआ पुल पड़ता है जो अपनी कारीगरी के लिये प्रसिद्ध है।

देव प्रयाग

देव प्रयाग भागीरथी (गंगा) और अलकनंदा के संगम पर बसा हुआ एक छोटा सा नगर है। यहाँ भागीरथी प्रचण्ड गति से उछल कूद करती हुई बहती हैं और अलकनंदा प्रशान्त और गम्भीर ध्यान मग्न योगी की तरह। दोनों के बहाव में आश्चर्यजनक अन्तर है। प्रकृति की गोदी में देव प्रयाग अत्यन्त रमणीक और महत्वपूर्ण स्थल है। यहीं से यात्री गंगोत्री और जम्नोत्री को जाते हैं और यहीं से बद्रीनाथ और केदारनाथ की ओर भी रास्ता जाता है।

देव प्रयाग में हमने अपनी यात्रा के लिये कुलियों को ठीक किया। गंगोत्री और जम्नोत्री की पूरी यात्रा लगभग ३५० मील की थी और इसके बाद हमने भागीरथी के किनारे किनारे अपनी कठिन यात्रा प्रारम्भ कर दी। देव प्रयाग के ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते उतरते, छोटे छोटे गाँवों के बीच से होते, वृक्ष कुञ्जों की छाया से आँख मिचौनी खेलते दो दिन के बाद हम लोग टेहरी राज्य की राजधानी टेहरी के निकट पहुँचे। टेहरी महाराज का ऊँची पहाड़ी पर खड़ा हुआ शुभ्र स्फटिक महल दूर ही से दिखाई देने लगता है।

टेहरी

टेहरी का नगर भागीरथी और भिलङ्गना नदियों के संगम पर बसा हुआ है। यहाँ का बाजार और मंडी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ डाकखाना भी है। यहाँ के निवासी अत्यन्त गरीब और पिछड़े हुये हैं। मकान छोटे छोटे होते हैं जिनमें कोई खिड़कियाँ नहीं होतीं। छोटी छोटी खेतियों को छोड़ कर अधिकांश टेहरी निवासियों के पास कोई काम नहीं, न कोई व्यापार, न कोई उद्योग धन्धा।

दूसरे दिन सुबह हम लोगों ने फिर अपनी यात्रा शुरू कर दी। चढ़ाई बड़ी मुशकिल थी। वर्षा के कारण जगह जगह रास्ता ढह गया था। फलस्वरूप हमें कई कई सौ फ़ुट नीचे उतर कर और फिर

ऊपर चढ़कर टूटा हुआ रास्ता पकड़ना पड़ता था। फिर भी नाचते उछलते हुए झरने, छोटा मोटी नदियों की वेगवती धाराएँ और छोटे छोटे जल-प्रपात यात्रा को सहज बनाने में काफ़ी मदद देते थे।

दो दिन की यात्रा के बाद रमणीक जंगलों से गुज़रते हुये हम लोग धरासू पहुँचे। धरासू से चार भिन्न भिन्न मार्ग टेहरी से मंसूरी, गंगोत्री और जम्नात्री को जाते हैं। यहाँ हमने भागीरथी की धारा को छोड़कर पहले जम्नोत्री जाने का निश्चय किया। जमना वैली पहुँचने के लिये हमें कई बीहड़ जंगलों और ऊँचे पहाड़ों को पार करना पड़ा। रास्ता मुशकिल, थकाने वाला और चीड़ के पत्तों से ढका रहने के कारण फिसलता हुआ और ख़तरनाक भी था। किन्तु यह सब होते हुये भी चीड़ के पत्तों से छूता हुआ उत्तरी बातास प्राणों में नई उमंगों और नई शक्ति का संचार करता रहता था। इन घने जंगलों में आग जलाना तो क्या सिगरेट पीने तक की सख्त मनाही है। यहाँ से कुछ दूर उत्तर की ओर जाने पर हमें बड़ा ही मनोहर दृश्य दिखाई दिया। नीचे सामने रुपहली नागिन सी फुंकार भरती हुई मीलों तक जमना कल रव कर रही थी। जमना अपने झागों में ऐसा लगती थी मानो सफ़ेद हीरे में किसी ने हरा नगीना जड़ दिया हो। जमना के ऊपर दूर क्षितिज में हिमालय के हिमाच्छादित धवल शृङ्ग एक अद्भुत दृश्य उपस्थित करते थे।

थोड़ी सी उतराई के बाद हम लोग जमना वैली पहुँच गये और वहाँ से जमना के किनारे किनारे हमने अपनी यात्रा शुरू की। रास्ते में ठहरने की जगह और खाने की ज़रूरी चीज़ें जैसे आटा, चावल, घी, आलू और दालें मिल जाती थीं। रास्ते में कई जगह पहाड़ बिलकुल नंगे और बंजर मिलते थे। यात्रा को उन्होंने उजाड़, सुनसान और ख़ौफ़नाक बना दिया था। भागीरथी वैली की तरह जमना वैली में रेतीले पहाड़ नहीं हैं। जम्नोत्री तक रास्ते भर ठोस पहाड़ों की श्रेणियाँ फैली हुई हैं। जमना जल स्वच्छ, नीला और निर्मल है। इसके मुकाबले में भागीरथी का जल रेतीले पहाड़ों की गलती हुई रेत के कारण मटमैला हो जाता है।

की कठिन यात्रा पैदल या टट्टू पर ही की जा सकती है। रास्ते में लछमन झूला का लटकता हुआ पुल पड़ता है जो अपनी कारीगरी के लिये प्रसिद्ध है।

देव प्रयाग

देव प्रयाग भागीरथी (गंगा) और अलकनंदा के संगम पर बसा हुआ एक छोटा सा नगर है। यहाँ भागीरथी प्रचण्ड गति से उछल कूद करती हुई बहती है और अलकनंदा प्रशान्त और गम्भीर ध्यान मग्न योगी की तरह। दोनों के बहाव में आश्चर्यजनक अन्तर है। प्रकृति की गोदी में देव प्रयाग अत्यन्त रमणीक और महत्वपूर्ण स्थल है। यहीं से यात्री गंगोत्री और जम्नोत्री को जाते हैं और यहीं से बद्रीनाथ और केदारनाथ की ओर भी रास्ता जाता है।

देव प्रयाग में हमने अपनी यात्रा के लिये कुलियों को ठीक किया। गंगोत्री और जम्नोत्री की पूरी यात्रा लगभग ३५० मील की थी और इसके बाद हमने भागीरथी के किनारे किनारे अपनी कठिन यात्रा प्रारम्भ कर दी। देव प्रयाग के ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते उतरते, छोटे छोटे गाँवों के बीच से होते, वृक्ष कुञ्जों की छाया से आँख मिचौनी खेलते दो दिन के बाद हम लोग टेहरी राज्य की राजधानी टेहरी के निकट पहुँचे। टेहरी महाराज का ऊँची पहाड़ी पर खड़ा हुआ शुभ्र स्फटिक महल दूर ही से दिखाई देने लगता है।

टेहरी

टेहरी का नगर भागीरथी और भिलङ्गना नदियों के संगम पर बसा हुआ है। यहाँ का बाजार और मंडी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ डाकखाना भी है। यहाँ के निवासी अत्यन्त गरीब और पिछड़े हुये हैं। मकान छोटे छोटे होते हैं जिनमें कोई खिड़कियाँ नहीं होतीं। छोटी छोटी खेतियों को छोड़ कर अधिकांश टेहरी निवासियों के पास कोई काम नहीं, न कोई व्यापार, न कोई उद्योग धन्धा।

दूसरे दिन सुबह हम लोगों ने फिर अपनी यात्रा शुरू कर दी। चढ़ाई बड़ी मुशकिल थी। वर्षा के कारण जगह जगह रास्ता ढह गया था। फलस्वरूप हमें कई कई सौ फ़ुट नीचे उतर कर और फिर

ऊपर चढ़कर टूटा हुआ रास्ता पकड़ना पड़ता था। फिर भी नाचते उछलते हुए झरने, छोटा मोटी नदियों की वेगवती धाराएँ और छोटे छोटे जल-प्रपात यात्रा को सहज बनाने में काफ़ी मदद देते थे।

दो दिन की यात्रा के बाद रमणीक जंगलों से गुज़रते हुये हम लोग धरासू पहुँचे। धरासू से चार भिन्न भिन्न मार्ग टेहरी से मंसूरी, गंगोत्री और जम्नात्री को जाते हैं। यहाँ हमने भागीरथी की धारा को छोड़कर पहले जम्नोत्री जाने का निश्चय किया। जमना वैली पहुँचने के लिये हमें कई बीहड़ जंगलों और ऊँचे पहाड़ों को पार करना पड़ा। रास्ता मुशकिल, थकाने वाला और चीड़ के पत्तों से ढका रहने के कारण फिसलता हुआ और ख़तरनाक भी था। किन्तु यह सब होते हुये भी चीड़ के पत्तों से छूता हुआ उत्तरी बातास प्राणों में नई उमंगों और नई शक्ति का संचार करता रहता था। इन घने जंगलों में आग जलाना तो क्या सिगरेट पीने तक की सख्त मनाही है। यहाँ से कुछ दूर उत्तर की ओर जाने पर हमें बड़ा ही मनोहर दृश्य दिखाई दिया। नीचे सामने रुपहली नागिन सी फुंकार भरती हुई मीलों तक जमना कल रव कर रही थी। जमना अपने झागों में ऐसा लगती थी मानो सफ़ेद हीरे में किसी ने हरा नगीना जड़ दिया हो। जमना के ऊपर दूर क्षितिज में हिमालय के हिमाच्छादित धवल शृङ्ग एक अद्भुत दृश्य उपस्थित करते थे।

थोड़ी सी उतराई के बाद हम लोग जमना वैली पहुँच गये और वहाँ से जमना के किनारे किनारे हमने अपनी यात्रा शुरू की। रास्ते में ठहरने की जगह और खाने की ज़रूरी चीज़ें जैसे आटा, चावल, घी, आलू और दालें मिल जाती थीं। रास्ते में कई जगह पहाड़ बिलकुल नंगे और बंजर मिलते थे। यात्रा को उन्होंने उजाड़, सुनसान और ख़ौफ़नाक बना दिया था। भागीरथी वैली की तरह जमना वैली में रेतीले पहाड़ नहीं हैं। जम्नोत्री तक रास्ते भर ठोस पहाड़ों की श्रेणियाँ फैली हुई हैं। जमना जल स्वच्छ, नीला और निर्मल है। इसके मुकाबले में भागीरथी का जल रेतीले पहाड़ों की गलती हुई रेत के कारण मटमैला हो जाता है।

जम्नोत्री

दस हजार फुट की ऊँचाई पर जहाँ हिमालय का वक्ष चीर कर जमना प्रकट हुई हैं जल बिलकुल विगलित हिम सा है। किन्तु यहीं



चित्र १

हमें प्रकृति का अद्भुत चमत्कार देखने को मिलता है। पास ही एक



बद्रीनाथ के मन्दिर के द्वार पर

बंजर पर्वत श्रेणी के चरणों से खौलते हुये पानी का गरम चश्मा फूट कर बहता है। इस पानी से दाल, चावल, आलू सब कुछ उबाले जा सकते हैं। यह पानी बह कर नीचे एक पक्के कुण्ड में इकट्ठा होता है जहाँ यात्री गरम जल में स्नान करके श्रममुक्त हो जाते हैं।

जम्नोत्री से ऊपर जमना के असली स्रोत तक जाने के लिये कोई विधिवत मार्ग नहीं है। हमें जमना के बरफीले जल से होकर ही ऊपर जाना पड़ा। ठंढ के मारे हमारे पैर और सारा शरीर अकड़ने लगा। अत्यन्त कठिन रास्ते को पार करके हम एक ऐसी बरफीली चोटी के पास पहुँचे जिसका कलेजा चीर कर मर्त्यलोक के प्राणियों को जमना युगों से प्रेम और पुण्य का अनन्त सन्देश सुना रही है। यहीं धारा के ऊपर जल तन्तुओं ने एक स्वाभाविक बरफीला पुल बना रक्खा है। उसी पर चढ़ कर हमने देखा कि तीन छोटी छोटी धारायें विविध दिशाओं से निकल कर इस जगह गले मिलती हैं। बीच की धारा ही जमना है। ये तीनों धारायें एक साथ मिल कर थोड़ी दूर तक विलीन होकर फिर वेगमय गति से फूट निकलती हैं। हमने जमना जी के स्रोत को नतमस्तक होकर श्रद्धा से प्रणाम किया।

उत्तर काशी

जम्नोत्री से वापस धरासू लौटकर अब हमने गंगोत्री की यात्रा शुरू की। गंगोत्री के मार्ग का सब में महत्वपूर्ण स्थान उत्तर काशी है। धार्मिक स्थान होने के साथ-साथ इस भूखंड का अकेला एक अस्पताल भी यहीं है। किन्तु यह अस्पताल क्या है, अस्पताल के नाम पर एक मज़ाक है। टेहरी राज्य में बीमारों की इतनी दुर्दशा देख कर हृदय पसीज उठता है। टेहरी राज्य की ओर से शीघ्र से शीघ्र चलते फिरते अस्पतालों की व्यवस्था होनी चाहिये।

उत्तर काशी में अधिकांश आबादी साधुओं की है जो जीवन का माया-मोह छोड़ कर यहाँ आत्मा की सद्गति के लिये तपस्या करते हैं। यहाँ के छोटे से डाकखाने से हमें लगभग दो हफ्ते के बाद अपने पत्र और अख़बार आदि प्राप्त हुये।

उत्तर काशी से चलकर हमने भागीरथी वैली के बीच से आगे

बढ़ना शुरू किया। जमना वैली तंग और बंजर है। उसके मुक़ाबले में भागीरथी वैली धानों और गेहूँ के खेतों से भरी हुई विस्तृत उपत्यका है। ऐसा लगता था मानो हम कहीं मैदान में चले जा रहे हों। दाहिनी ओर भागीरथी बह रही थीं।

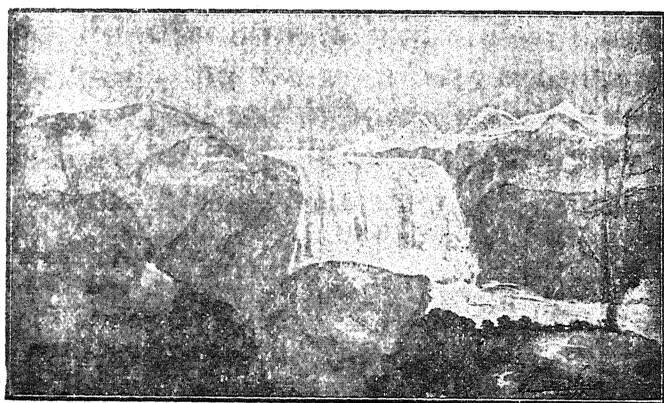
भैरों घाटी

किन्तु दो दिन बाद हमें इस उपत्यका की सब में तंग जगह से होकर गुज़रना पड़ा। रास्ता सख्त, पथरीला, कठिन उतराई का और मुशकिल बनता गया। भागीरथी ने ऊँची ठोस पहाड़ियों को अपने वेग में मेहराब की तरह काट दिया है। इस जगह को लोग भैरों घाटी कहते हैं।

इस घाटी में भागीरथी की सब में बड़ी सहेली जाह्नवी तिब्बत से आकर मिलती है। जाह्नवी की शान, भव्यता और उसके नीले जल के आगे मटमैली भागीरथी एक बार फीकी लगने लगती है।

गंगोत्री

इस उपत्यका को पार करके हम लोग देवदारु के सघन वन के बीच में भैरों जी के मन्दिर के पास बाबा काली कमली वाले की



गंगोत्री

धर्मशाला में अतिथि हुये। यहाँ से गंगोत्री केवल छै मील है। रात

भर विश्राम करने के बाद हम लोग दूसरे दिन सुबह गंगोत्री पहुँच गये। गंगोत्री में महाराज जयपुर द्वारा बनवाया हुआ सुन्दर प्रस्तर मन्दिर और शानदार धर्मशाला देखकर बड़ा सुख पहुँचा। १५० मील की कष्टकर यात्रा के बाद मन्दिर की भव्य मूर्तियाँ धर्मप्राण यात्रियों पर बड़ा सुखद और शीतल असर डालती हैं। गंगोत्री का शान्त वातावरण केवल पूजा के समय घण्टों, घड़ियालों और आरती से ही भंग होता है जब यात्री आत्मविभोर होकर कल्याणमयी माँ गंगे की उपासना में मग्न हो जाते हैं।

गौमुख

किन्तु गंगोत्री गंगा का असली स्रोत नहीं है जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है। गंगा का असली स्रोत गंगोत्री से १४ मील ऊपर गौमुख नामक स्थान में है। गौमुख में ही गंगोत्री नामक ग्लेसियर से, जो बद्रीनाथ तक फैला हुआ है, पतित पावनी भागीरथी दुनियाँ में अपने महान मिशन को पूरा करने के लिये बिछुड़ती हैं।

चूँकि गौमुख जाने के लिये कोई विधिवत् मार्ग नहीं है इसलिये हर यात्री गंगोत्री से वापस लौट आता है। गौमुख के सम्बन्ध में इतनी कम ख़बर लोगों को है कि आगे जाने की किसी की हिम्मत ही नहीं पड़ती। हमारे कुलियों ने भी वहाँ जाने से इनकार कर दिया और मुँह माँगे दाम देने पर भी कोई मार्ग-दर्शक हमें वहाँ ले जाने के लिये तय्यार नहीं हुआ। अन्त में बड़ी खुशामदों के बाद हमारे कुली आगे इतनी दूर तक जाने को तय्यार हुये जहाँ हम लोग ठीक जगह देखकर रात को पड़ाव लगा सकें।

गंगोत्री में भागीरथी को पार करके हम लोगों ने उसके बायें तट से ऊपर बढ़ना शुरू किया। कहीं चढ़ाई, कहीं उतराई और न रास्ता न पगडंडी। कहीं सीधी चढ़ाई थी तो कहीं भयंकर उतराई। जगह जगह रेतीले पहाड़ के ढुम्बे ऐसे उभरे हुये कि ज़रा पानी बरसा कि टूटकर हमारे ऊपर गिरने का खतरा। रात को हम लोगों ने भोजपत्र के पेड़ों के एक समूह के नीचे डेरा डाला। दूसरे दिन कुलियों के साथ

अपना सामान छोड़कर हम गोमुख की ओर आगे बढ़े। बरफ़, पानी और बड़े ढेकों को पार कर हम लोग एक पहाड़ की चोटी पर चढ़े। यहाँ से जो दृश्य देखा वह जीवन भर भूलने का नहीं। सामने नीचे गंगोत्री ग्लेशियर था जहाँ से भगवती भागीरथी प्रवाहित हो रही थीं। तेज़ी के साथ हम लोग ग्लेशियर के निकट पहुँचे।

× × ×

वापस यात्रा में भागीरथी के किनारे-किनारे हम लोग धरासू पहुँचे और फिर वहाँ से मसूरी। इस तरह ३१ दिन में हम लोगों ने गंगोत्री और जम्नोत्री की पैदल यात्रा पूरी की। रास्ते में बाबा काली कमली वाले की ओर से जगह-जगह धर्मशालायें बनी हुई थीं जहाँ ठहर कर यात्री रात की भयंकर शीत और कष्ट से बच सकता है। इन धर्मशालाओं में पकाने के बर्तन और कम्बल आदि भी मिल जाते हैं। इस सब से यात्रियों के कष्ट आधे रह जाते हैं।

——बैजनाथ

पाञ्चाल पथ

रावलपिंडी से श्रीनगर, मोटर बस में

१६ मई, १६४१ ई०

ऊँचे ऊँचे पांचाल शिखर की ओर।

वह धूल धूसरित झाड़ झंखाड़, वन बीहड़ों युक्त धरातल, ऊँचे से अब कितना मनोमोहक लगने लगा है।

दोनों ओर के महान भूधरों की विस्तृत ढलान पर जलमग्न खेतियाँ और चरणों तले मानों अंजलि भरे आरती उतारती-सी चन्द्रभागा।

प्रभात किरणें अभी फूटी नहीं, किन्तु पश्चिम की ओर सुदूर में हिम-जड़ित मुकुट धारण किये वे नोकीली चोटियाँ किस अदृश्य आलोक का आभास पा झलमला उठी हैं ?

प्रत्येक मोड़ के बाद उठती ऊँचाई, और उन्हीं गिरि-शृंगों का बढ़ता व्यवधान तनिक भयावना रूप धारण कर रहा है। इस विस्तृत

गहनशून्यता के ऊपर एक बड़ा-सा पत्ती पंख फैलाए मानों अगाध सागर में तैर रहा था।

दो ही दिन में तो, मेरे सिमटे प्राणों ने इतना भव्य रूप! इतनी विराटता पाई है। चूने पत्थरों की प्राचीरों में से सीमित क्षितिज के टुकड़े और गमलों में लगे किंचित फूल पत्तों अथवा कभी कभी उन पर अकेली मंडराने वाली तितली को नित्य प्रति देखते देखते मेरा बद्ध मानस क्या इसी भव्यता के लिये आकुल हो उठता था?

वाणी जहाँ मौन हो जाती है, पलकें जहाँ झपक नहीं ले पातीं, तन मन की समस्त क्रियाएँ रोमाञ्चित हो केवल दो बूँद अश्रु भर लाती हैं; ऐसे पुलक के क्षण मेरे भीतर छा रहे हैं। उस पत्ती के डैनों-सी शक्ति प्राप्त करने को, उन झिलमिलाते किरीटों के अतुल सौन्दर्य को, अमर शान्ति को क्षण भर स्पर्श करने को भुजाएँ व्यग्र हो उठती हैं।

पाञ्चाल का काल्पनिक रूप* मेरे बाल नेत्रों के सम्मुख सदा ही निर्मम रहा है। जम्मू काशमीर के ऐन मध्य में हिमपूरित ऊँची वृहत प्राचीर, जिसकी ढलान पर बरफ में दबे कहीं कहीं घोड़े का कान, कहीं पूँछ और कहीं मनुष्यों की अस्थियाँ, पर पीछे तो स्वयं इस शिखर पर ४० फुट तुषार देखी है। पतझड़ के दिनों में आँसू भर कर अनेक बार बिदा ली है, लू से तपते हुए थके हारे यहीं पहुँच कर शीतल साँस ली है—पांचाल शिखर के पास जाते ही सदा ऐसा लगा है कि मानों घट का पट खोल दोनों भुजाएँ फैलाये जननी आँचल में लेने को आतुर हो।

किन्तु आज का रुचिर परिधान! ऐसा सौन्दर्य! नेत्र मानों आज कुछ विशेष पा रहे हों। हिम के दोशाले सम्भवतः अभी अभी उठे हैं और उनके स्थान पर श्वेत गुलबहार (डेज़ी), पीले फूल (बटर कप), जंगली गुलाब हरित पल्लवों पर इठला रहे हैं—नव पल्लव युक्त

---

*जम्मू काशमीर वैली रोड बनने से पूर्व यह मार्ग पैदल अथवा घोड़ों द्वारा कठिनता से पार किया जाता था।

तरुओं से लिपटी वन लताएँ ! और इसकी गोद में दुलार पाती हुई नवजात शिशु सी वितस्ता ।

× × ×

वर्षों के उपरान्त बहार के दिनों में इस सजला श्यामला भूमि के अन्तर से उठी सौरभमय मत्त पवन, दूर तक खिले लाल पोस्त, श्वेत नीले शोषन के फूल देख देख अह्लादित हो रही हूँ—किन्तु जाने क्यों पर्वतों से हटकर नीचे समतल पर अंकुर विहीन धान की जलमग्न खेतियों में बार बार उन किरीटों की प्रतिच्छाया आकर्षित कर रही हैं, मानों रह रह कर—

दूर कहीं अज्ञात दिशा से इङ्गित आवाहन हो

सिद्धिपुर
१४ जुलाई, ४१

बाहर भयङ्कर तूफान ! निविड़ नीरव अँधियारी निशा, ऊँचे ऊँचे पेड़ों से घिरा सघन वन । इन्हीं के काष्ठ से निर्मित घोंसले में पड़ी हूँ । साथी दिन भर के थके और क्षुधा से विकल हैं । उन्हें मुझसे काफ़ी आशा है । किन्तु इस समय तो हिला तक नहीं जाता । उनमें से दो साहसी व्यक्ति स्वयं ही बड़ा-सा पतीला चाय का बना लाये हैं और बाकरखानियाँ (काशमीरी कुचले) डाल कर खा रहे हैं । चाय से कुछ नहीं बना तो बादामों पर धावा बोल दिया । यहाँ आकर पता लगा कि इधर आगे खाने को कुछ भी नहीं मिलेगा । सो मुझे हिसाब लगा कर साथ लाई हुई रसद में से चार दिन की व्यवस्था करनी है । सब्ज़ी में केवल थोड़े से आलू, प्याज़, बैंगन और थोड़े से टमाटर हैं । खैर कड़म का साग तो कहीं मिल ही जायगा...

तूफ़ान मानों लकड़ी की दीवार को भेदकर भीतर आना चाहता है । वृक्षों से साँय साँय की भीषण ध्वनि, जिसका आकर्षण ही प्रायः वनों में घेर लाता है, उठ रही है ।

साथी सो गये हैं, लैम्प जल रहा है, ज्योत्सना भरी एवं ग्रह-नक्षत्रों से पूर्ण रात्रियों में वन की शोभा अनेक बार देखी है किन्तु

जी होता है खुली खिड़की में से आज इस झंझा की रात में वसुन्धरा के दृश्य से उठे अत्यन्त गोपनीय द्वन्द्व को देखती रहूँ। इस गहन तमो सागर में हमारा यह घोंसला मानो तैर रहा हो। जंगली जानवरों के भय से सहसा खिड़की बन्द कर लेती हूँ।

आज का सारा दिन पलट-पलट कर आ रहा है। मोटरबस में बैठे बैठे श्रीनगर से शुपइयाँ तक के ३५ मील, बैत वृक्षों पर झुकी हुई अंगूर की बेलों से शोभित वितस्ता के तीर पर कई गाँव......

पुनः—

घोड़े अब आगे निकल गये हैं, एक अज्ञात दिशा की ओर। बिना पूरा प्रबन्ध किये चल पड़ने की चिन्ता से घिरी पैदल जा रही हूँ। किन्तु आधा मील आगे, जैसे ड्योढ़ी के भीतर क़दम रखते ही वही विराटता। थोड़ी दूर पश्चिम में किसी बबर सिंह की वृहत् पीठ के आकार सी चील वृक्षों से घिरी पहाड़ी, नीचे दूर समतल में रेत पत्थरों पर झलकती दो तीन धाराएँ।

सहसा एक सुमधुर गीत की गूँज—

आश्चर्यचकित हो चारों ओर देखती हूँ, गाने वाले मुझे दिखाई नहीं पड़ते। शब्द भी स्पष्ट नहीं उतरते। एक स्वर पहले ऊँचे से तान भर कर उठता है। पुनः उस एक ही चरण को द्रुतलय में बार बार दुहराते हुए अनेक स्वर। ओह! इन ऊँची मेढों के पार शाली (धान) फूट आई है और वहीं से मानों स्वतः माँ प्रकृति के मुँह से यह मधुर लय गुञ्जरित हो रही है।

कुछ क़दम आगे—

दीर्घ लय में एक करुण गान। साँझ घिर आई है। अन्तिम किरणें नीचे समतल धाराओं पर, सामने सिंह की पीठ जैसी पहाड़ी पर नववधू के अंचल सी झलमला रही हैं। इधर पास ही ढलान पर अखरोट के पेड़ तले तीन व्यक्ति बैठे मस्त तान में गा रहे हैं। इस गीत के अर्थ भी नहीं समझ सकी। किन्तु मेरे मन प्राण रोमांचित हो उठे। नीरव स्थान में संगीत का कितना महत्त्व है। नदी की छल

छल, वायु की साँय साँय, पक्षियों के कलरव की भाँति मानव हृदय से प्रस्फुटित इस शुद्ध सान्ध्यगीत को प्रकृति का करुण बिहाग कहूँ या महाकवि के शब्दों में

याखुन बेलार शेषेर छाया, पाखिराजाय,
आपन कूलार माझे······

सन्ध्या पूजा घण्टा याखुन बाजे
··· जैले दिवस गेले······

दो क्षण खड़े होकर सुनती हूँ पर रुकने को समय कहाँ है ? साथी आगे जा चुके हैं। संगीत की गूँज से फैले कम्पन को वहीं छोड़ तेज चाल से आगे बढ़ जाती हूँ। एक छोटे पुल को पार कर दोनों ओर धानी रंग के पक्के गेहूँ के खेतों में से होता हुआ सीधा नीरव पथ। दो पैदल जाने वाले साथी मिल गये हैं।

"शिव है शिव! तभी तो उसके गले में चाँदी की सी रेखा है।" साथी का संकेत ऊपर अनन्त की ओर जहाँ एक वृहत् श्याम घन शिव लिङ्ग के आकार की रजत रेखा लपेटे है।

चील वृक्षों में से पुनः नीलाकाश तले मादक पवन में मानों तैरते हुए से छै मील कट चुके हैं। सातवें मील में कुछ बस्ती के चिन्ह नज़र आने लगे। हम सब के कानों में एक वृहत् प्रपात की काल्पनिक ध्वनि गूँज रही है। हमारी इच्छा है रात भर वहीं प्रपात के समीप ही कलकल निनाद सुनते रहें।

किन्तु "रात घनी होती जा रही है। आगे मील तो चार ही हैं पर रास्ता खतरनाक है। यहीं सिद्ध पर, बँगला में विश्राम कीजिये।" अपने पथ-प्रदर्शक घोड़े वालों का कथन स्वीकार करना पड़ा है।

प्रभात होने से पूर्व ही हमें इस पान्थशाला को छोड़कर चल देना है। अब भी मेरी आँखों के सामने 'प्रताप पुस्तकालय' (श्रीनगर) में सुरक्षित वह सौ वर्ष पुरानी पुस्तक का पन्ना खुला पड़ा है, जहाँ से

काशमीर उपत्यका के इस वृहत् प्रपात का वर्णन ही मुझे निमंत्रित कर लाया है।

× × ×

उजाला होने लगा है, साथियों के जागने से पूर्व ही दूर तक देख आई हूँ। रात का भयावना सुनसान वन देवदारु के आकाश तक ऊँचे उठे वृक्षों में छिपे पक्षियों के मधुर संगीत से गूँज उठा है। घोंसला वास्तव में दो कमरों की कोठी की शक्ल में परिवर्तित हो गया है। रजत अवगुण्ठनों के मध्य में से स्वर्ण रश्मियाँ फूट फूटकर मील भर के घेरे में उगे वन कुसुमों पर पड़ रही हैं। सामने ओस-बिन्दुओं से जगमगाते ऊँचे कद तक के पीले फूलों में खड़ी देवाङ्गना-सी एक सुन्दरी वनकन्या गौओं को आहाते से बाहर कर रही है। ऐसे अनुपम सौन्दर्य का आवेग मेरे भीतर न समाकर छलक उठा है। कलम लेकर सुदूर कहीं किसी स्नेही तक मानों यह रस-धारा उड़ेलना चाहती हूँ।...

१५ जुलाई, प्रभात

कौंसिल नाग नामक झील की यात्रा कर रही हूँ। मेरे साथ के०, अ०, सु०, इ०, व्र०, भा० हैं। इस समय बरामदे में बैठी सूर्योदय का......

"सामान तय्यार है ?" घोड़े वालों ने मानों मेरे मुँह को चेतावनी देकर झटक दिया। "दूर जाना है, स्थान-स्थान पर छिटके सौन्दर्य को एक दृष्टि भर देख लेना ही पर्याप्त है।"

गुलमर्ग की तरह हरे भरे मैदानों और घने वृक्षों में से छनछन कर आती हुई प्रभात किरणों में से होते हुए एक ऐसे स्थान पर आ पहुँची हूँ, जहाँ मार्ग दो ओर को विभक्त हो गया है। साथी जाने किस ओर को चले गये हैं। किससे पूछूँ ? नितान्त अपरचित निस्तब्ध पथ मौन उत्तर देते हैं। मील भर तक एक ओर निराश लौट आने पर तनिक उतराई में दूसरी ओर को।

झर झर ! झर झर ! झर झर ! हा ! हा ! हा !

उल्लसित ध्वनियाँ, सुरम्य पवन में वन्य पल्लवों को दोलायमान करती हुई, मानों साक्षात् वन-लक्ष्मी नृत्य कर कर रही हो।

निश्चय ही प्रपात उन्होंने देख लिया है।

अहरबल प्रपात
दोपहर

राशि-राशि अति स्वच्छ जल धाराएँ नर्तन करती हुई ऊपर से आती हैं, पुनः मिलकर छोटी सी झील के आकार में हो जाती हैं और वह पूरी की पूरी झील लगभग सौ फुट से दोनों ओर के वृहत् चट्टानों के कपाट में से हो वेगपूर्वक गिर रही है। इसी कपाट पर बैठे-बैठे इन चंचल तरंगों के आने जाने और विलीन होने का क्रम देख एक हलका व्यथित भाव उठ खड़ा हुआ है। किन्तु इसी क्रम में तो प्रभा का सौन्दर्य निहित है और मेरे चिर पिपासित नेत्र इस निरन्तर प्रवाह के आदि स्रोत की ओर लगे हैं। प्रपात की ध्वनि में, उसके वृहत् रूप में कुछ रौद्र भाव हैं। पर वह सामने शिला पर छाया में (जहाँ प्रपात के छींटे मानो पुनः ऊपर लौट आना चाहते हैं) एक सुन्दर पक्षी गम्भीर भाव में किसी असीम आनन्द का स्पर्श कर रहा है।

साथी वस्त्र उतार कर प्रवाह में कूद पड़े हैं। वेग अधिक है, मध्य में एक सूखे स्थान पर पहुँचने की उनकी चेष्टा बार-बार विफल हो जाती है।

दो शिलाओं को जोड़ कर भोजन बनाने की व्यवस्था की है। यात्रा में जीवन का यह संक्षिप्त रूप कैसा सुहाता है! धुएँ से काली कुछ शिलाएँ, सूखे फलों के कुछ छिलके कभी पूर्व इधर आने वाले पथिकों की कौतुक क्रीड़ाओं को प्रकट कर रहे हैं।

पहाड़ी लड़का जो सूखा ईंधन दे गया है—आश्चर्य है पैसे की अपेक्षा प्याज़ अथवा सब्ज़ी लेने को अधिक उत्सुक था!* थोड़े

*इन पहाड़ों की ऊँचाई यद्यपि अत्यधिक नहीं है, तो भी इधर न कोई बस्ती है और न किसी प्रकार की उपज। जम्मू स्टेट की ओर से आये हुए कहीं कोई बिरले गूजर परिवार यहाँ मिल जाते हैं।

लगभग आधा मील ऊपर फूलों से आच्छादित बन में छोड़ दिये गये हैं। स्नान भोजन से निवृत्त हो हम पुनः चल देंगे।

कुंगवटन

कल रात से भी अधिक तुफान, रह-रह कर वर्षा के झकोरे। कभी अन्धकार को चीरती विद्युत् शिखा। दूर मीलों से आकर टकराता हुआ झंझा का स्वर।

साथियों को खाना अभी खिला कर इस नये घोंसले के बाहर कोने में गरम वस्त्रों में लिपटी बैठी हूँ। इसी प्रकार एक वेगवान लहर अनायास ही—मानो सरोवर में उठ उठ कर झकोर रही है। अन्तर के उफान अन्तर में ही घिरे रहने पर सुख पाते हैं, प्रकृति के महान् उद्वेगों की नाईं प्रतिक्षण उठने वाले अपरिमित चंचल भाव देख स्वयं ही वैचित्र्य से भर उठती हूँ।*

और ये छाया से अङ्ग सङ्ग अतीत के क्षण, मानो दुहराते हुए चल-चित्र की भाँति—

अहरबल प्रपात से चलकर ऊँचे इधर को। नदी के शीतल जल से स्नात् अलसाया तन; वहीं अखरोटों और हरियाले वृक्षों की छाँह में लेटे रहने को जी चाहता है। ऊपर जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, चोटियों तक रंग-बिरंगे फूल ही फूल छाये हैं। नीचे अन्तर को स्पर्श करता हुआ नदी का धीमा संगीत.........एक झपक में जैसे सुनती हूँ—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमत्तै-
र्नान्यस्तापा कुसुमशरजादिष्ट संयोग साध्यात्

किन्तु पथिक सोने का समय नहीं!

आगे बढ़ कर उस पार दो पर्वतों के मध्य में से होती एक और वेगवान धारा इस नदी में आ मिली है।

---

*कुंगवटन की ऊँचाई साढ़े नौ हज़ार फुट के लगभग है। कुंग शब्द का अर्थ केसर है।

" इस नदी का नाम ?"

" विश्व नदी "

" और वह सामने का नाला ? "

" गुरु वटन "

घोड़े वाला लाहौर तक हो आया है। हरा चश्मा लगाता है। काशमीरी भाषा में उत्तर न दे पंजाबी हिन्दी मिला कर बोलने में, अपने अन्य साथियों की अपेक्षा गौरव समझता है।

देखती हूँ दो मील आगे आकर जहाँ न कोई पन्थी है, न पक्षी की आवाज़, न नदी का साथ, केवल वन पुष्पों से दूर दूर छाये सौरभ में साथी वृक्षों से घोड़े बाँध ढलान पर सोये हैं। उनके मुखों पर दोपहरी की क्लान्ति है।...

दो पुलों को पार कर इधर को विश्व नदी से बिदा लेते हुए कुछ क्षोभ सा होता है। किन्तु यदि नदी में संगीत है, तो उससे हट कर इन जड़ी बूटियों भरे मैदान में गुञ्जरित मर्मर का भी कम महत्व नहीं। साथियों में से दो व्यक्ति घोड़ा दौड़ा कर आगे निकल गये और शेष बहुत पीछे। चढ़ाई तनिक अधिक हो चली है। मैंने भी घोड़ा ले लिया है। पहाड़ी पार कर अपने को अद्भुत स्थान में पाती हूँ। छोटी छोटी पर्वत-मालाओं से घिरा विस्तृत हरा मैदान, अन्तिम किरणें तरु-शिखाओं पर दमक रही हैं। दूर कहीं धुआँ निकलते दीखता है। घोड़ा सरपट चाल से मैदान में होकर एक झोपड़े तक पहुँचाना चाहता है, जहाँ द्वार पर एक नन्हीं पर्वत-कन्या निकल आई है। दो कुत्ते भौंकने लगे हैं। एक गाय कुछ कुपित भाव से, कुछ आश्चर्य से देखने लगी है, मानों उन्हें हमारा आगमन न सुहाया हो। उतर कर रासें थाम वहीं नीचे बैठ जाती हूँ।

कुंगवटन का काल्पनिक चित्र, जिसका आभास नीचे सिद्धपुर तथा शुपइयां के लोगों ने दिया था, मिटा मिटाकर इस मनोहारिणी उपत्यका में स्थित केवल इस सरकारी बँगले के रूप में रह गया है।

साथी सब ढूँढ़ भाल आये हैं। उनका कहना है आध मील पर

एक जगह चीनी और चाय, दूध, मक्खन मिल सकता है। इतना क्या कम सन्तोषजनक है।

× × × ×

तूफान थम रहा है। हल्की बूँदें शेष रह गई हैं। कहीं-कहीं क्षितिज में ज्योति फूटने के लक्षण हैं। न जाने किस समय वह अन्तर में उठी झंझा आज के दिन के सौन्दर्य-चिन्तन में स्वतः ही सान्त्वना पा गई है। और कहाँ से कहाँ तक पहुँच-गई है।...

वन देवी तेरे चरणों में मेरे प्राण अधीर............

पंथ जोहते, नीड़ खोलते...............

× × × ×

१६ जुलाई

यात्रा का आज तीसरा दिन है। पान्थशाला से चलते तैयार होते भोर हो गई। कुछ पाथेय लेकर शेष सामान वाले घोड़े कुंगवटन में छोड़ दिये गये। लौट कर रात्रि में पुनः यहीं निवास करना है। पान्थशाला से आधा मील ऊपर चढ़ाई के बाद पुनः सघन वन! कुछ-कुछ क़दमों के अन्तर पर हम सब हौले-हौले मानों किसी शाही दरबार में से होकर गुज़र रहे हों। प्रतिक्षण उल्लास, उछल कूद प्रकट करने वाले साथी प्रत्यूष के इन पुण्य क्षणों में नितान्त मौन हैं; मानों वे अपने ही यौवन वसन्त की प्रतिच्छाया सर्वत्र बिखरी देख सस्मित हो उठे हैं। देवदारु के लाल, भूरे पुरातन तृणों ने मार्ग ऐसा स्निग्ध बना दिया है कि पदचाप भी सुनाई नहीं पड़ते और उनके रक्त वर्ण नव किसलयों से स्मरण हो आता है—

"भिन्त्वा सद्यः किशलयपुरान् देवदारुद्रुमाणां,..."

हरी छाँह ही छाँह! कभी कभी कहीं ऊपर से छनछन कर आती हुई निस्तेज प्रकाश की सुधा-धारा, जाने किसी महामहिमामयी के अम्बर तक उठ कर पल्लवों से अर्घ्य रूप में स्खलित हिम प्रपात, उसके हास्य रूप में नव हरित पल्लवों से ढंके कलकल ध्वनित मधुर जल के

स्रोत, कभी गहन शान्ति में नूपुरों से झरते वन फूल, कहीं तितलियों का उड़ता हुआ जोड़ा। किसी अदृश्य झाड़ी में से उठकर ऊपर को गुंजार भरती हुई कोई श्यामा! और कभी एक मत्त पवन के झोंके का स्पर्श!

अरे! यह सब आयोजन किसके निमित्त है? यवनिका जैसे गिरती है। क्रमशः रहस्य खुलता जाता है।

नहीं! अब पत्ती नहीं, वृत्त नहीं, तितलियाँ और भौंरे भी नहीं, एक और ही साम्राज्य है। दोनों ओर नंगी पथरीली विस्तृत पर्वत-श्रेणी के मध्य में पितृगृह से नई बिछुड़ी दुहिता—विश्वनदी।

छोटी छोटी झीलों अथवा प्रपातों के आकार में मुड़ मुड़कर पीछे देखती हुई मानों आगे न बढ़ना चाहती हो।

चढ़ाई कठिन हो रही है। पथ दीर्घ होता चला जा रहा है। कभी थमकर साँस लेने बैठ जाते हैं। साथी लम्बे डग रखते हुए मानों युग युग से इसी महापथ के राही! आगे निकल गये हैं।

हैं! ठीक वैसे ही मर्कत मणियों से जगमगाते हिम किरीट, जो उस दिन पांचाल शिखर के आरोहण के समय देखे थे, समीप होते आ रहे हैं।* मन उत्साह से भर उठता है। क्या वास्तव में हम उसी दिशा में जा रहे हैं? और सत्य ही मेरी भुजाओं में उस पत्ती के डैनों सी शक्ति भर आई है क्या?

"कुथे जासो? सर ऊपर चले ओ"...†

अरे! क्या मनुष्य की आवाज़ है? इस मलिन वेश धारणी गुजरी का साथ मुझे सुहाने लगा है।

"हे पहाड़ी मुकसी ना ते पौंच रह सो।"‡

---

*श्रीनगर से कौंसिल नाग के लिये प्रस्थान करते समय हमें तनिक भी इस दिशा में आने का भान न था।

†कहाँ जाओगी क्या सर की ओर?

‡यह पहाड़ी समाप्त होने पर पहुँच जाओगी।



कुछ दिनों में ही उसने मुझे यक्ष-किन्नर देवों के स्वप्न-लोक से लाकर एकदम घर पर पटक दिया है।

"तुसी लोक अकलमन्द ओ, बख़्तावर ओ, असीलोक बेअक़ल, ग़रीब, ते जंगली आँ, असाँ की कोई दवा दस्सो ?"

उन्मुक्त वायु, जल, आकाश से निर्मित इस मनोमोहक प्रदेश विहारिणी के पीले दाँतों, संग्रहणी के मारे कुरूप चेहरे और मलिन वस्त्रों पर एक अवहेलना की दृष्टि डाल आगे निकल जाती हूँ।

एक ओर गूजर परिवार झोपड़े से बाहर निकल आया है, इन पहाड़ी स्त्रियों की उत्सुकता भरी काली मोटी प्रखर आँखों के आगे देखने की हिम्मत नहीं होती।

एकदम नीचे उतार पर एक तेज़ धारा के पास सु० और छोटा साथी खड़े हैं। घोड़े धारा पार करना नहीं चाहते, पर सु० घुड़सवारी में प्रवीण है। धारा में पड़े एक लट्ठे पर चढ़ चाबुक ले किस फुरती से उसे पार छोड़ आई है, फिर दूसरे को भी और अब मेरे घोड़े को भी जो दूर से ही भय के कारण हिनहिनाने लगा था पार ले जा रही है। मेरा पैर लट्ठे से फिसल गया और मैं बरफ़ीली धारा में बह चली।

सु०···सु०...पकड़ो ..बचाओ—कठिनता से बच कर निकल पाई हूँ। मुझे गीले वस्त्रों की अपेक्षा पर्स में पड़े कुछ नोटों की अधिक चिन्ता थी। जिन्हें सुखाते बेर सु० की हँसी रुकती नहीं और छोटा साथी सहम-सा गया है। सु० को हँसने दो। फिर सवार हो जाओ। गीले वस्त्र स्वत: किसी समय सूख जाएँगे, यद्यपि किरणों में तनिक भी उष्णता प्रतीत नहीं होती।

अब हम उन्हीं नोकीली चोटियों के ऐन नीचे से होकर जा रहे हैं। वे मानों चारों ओर ऊँचे ऊँचे प्रपातों द्वारा विहस कर हमारी अभ्यर्थना कर रही हैं। किन्तु विकट चढ़ाई को देख साहस नहीं होता। इन्हीं किरीटों से स्खलित, इन्हीं वृहत् प्रपातों के बीच में विस्तृत सम-तल पर पीत पुष्पों से ढँकी कई छोटी छोटी झीलें हैं।

"यह सत पुखरन है।"*

मुझे अवाक् खड़े देख घोड़े वाला स्वतः कह उठता है और मैं और भी आश्चर्य से भर उठती हूँ। इससे पूर्व एक स्थान को इसने महीनाग कहा था।†

हिमालय के शिखर पर इस अतुल सौन्दर्य के मध्य में खड़े हो मुझे अनेक पुण्य तीर्थों से घुमाते हुए दृष्टि बङ्गाल के पोखरों तक ले गई है। और इन पहाड़ी लोगों के मुख से निकले यह सर, विश्व, सत पुखरन, मही आदि शब्द मिट्टी में चिरकाल से दबे नगीनों की भाँति लगते हैं। वह कौन सी कड़ी थी, जिसने हमें बाँध रखा था ?

फिर रास्ता नहीं, मोज़े उतारो, चप्पल उतारो, घोड़े काम नहीं देते, प्रपात, झरने, सब मिलकर एक ही वृहत् मुख हो गये हैं। सत पुखरन को इन्हीं हिम धाराओं को पारकर आगे अल पत्थर ‡ की सी सीधी चढ़ाई। दम फूल जाता है। सोचती हूँ जल की धाराएँ एक साथ जहाँ चट्टानों में से उफन उफन कर आ रही हैं, सम्भवतः विश्व नदी का यही उद्गम होगा। किन्तु नहीं। थोड़ा ऊपर जाकर पुनः अदृश्य।

साथी इस लाल फूलों से भरे कच्चे पहाड़ को लाँघ कर ऊपर खड़े रूमाल हिला हिलाकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का संकेत कर रहे हैं।...ओह! अन्तिम कपाट खुल गये। कुछ क्षण कोई बोलता

---

*सत पुखरन का अर्थ है सात झीलें। बंगला में भी पोखर तालाब को कहते हैं।

†कौंसिल नाग झील से जल की अनेक धाराएँ पर्वत के भीतर से (underground) होकर आती हैं। इन्हीं धाराओं से मिलकर विश्व नदी का निर्माण हुआ है। इनमें एक धारा जहाँ दिखाई पड़ती है, उस स्थान को महीनाग कहते हैं। यहाँ का जल अत्यन्त मधुर है।

‡अल पत्थर भी बारह हज़ार फुट की ऊँचाई पर एक छोटी सुन्दर झील है।

नहीं, हँसता नहीं, स्तब्ध, निर्निमेष, मानों किसी भव्य सिंहासन के सम्मुख चकाचौंध से।

× × ×

कौंसिल नाग झील में *

दो वृहत शिलाओं के सहारे साड़ी फैलाकर मैंने छत-सी बनाली है। ऐसा पुण्य पर्व जाने कब मिलेगा। झील के एक किनारे गले तक जल में उतराई हुई कभी पलकें खोलती हूँ कभी मूँदती हूँ। सामने तीनों ओर तिरछे नोकीले, उपमाहीन वर्ण लिये हिमपूरित किरीटों के मध्य में, मानों पांचाल का हृदय स्थल—अगाध, शान्त नील जल-राशी। पलक मूंदते ही पांचाल शिखर से लेकर गुलमर्ग तक विस्तृत शृङ्खला का भव्य स्वरूप छा जाता है। नाना वर्ण मेघ-पुंजों से शोभित शिखरों पर, कहीं झीलों में तैरते हिमखण्ड, कहीं मीलों तक हरित दोशाले ओढ़े मनस्वी से देवदारु के वन। अगर, कपूर से सुवासित अनन्त स्रोत।

एक ओर जिसके चरणों तले गहन गम्भीर चन्द्रभागा, दूसरी ओर वेरीनाग से प्रसूत वितस्ता, इधर विश्वनदी, चिट्टी नदी, निंगल, फ़िरोज़ीपुरी अनेक नदी नाले और न जाने कितने उल्लसित झरझर गुंजन लिये मंगलमय, मनोरम दृश्य।

बाल्यकाल की वह निर्ममता हट आज गिरिराज पांचाल के प्रति मेरा हृदय उमड़ तथा श्रद्धा से अवनत हो रहा है। रोम रोम में जिस असीम शांति का, जिस निखिल सौन्दर्य का स्पर्श कर रही हूँ, वे पुण्य क्षण तो केवल अनुभव की ही वस्तु हैं। नेत्र खोलती हूँ—सर्वत्र नील जलद समूहों ने उतर कर उन किरीटों की निधि को हम मानवों से अदृश्य कर लिया है! पर यह और भी सुन्दर है!

अब बूँदें, ओले, गर्जन, सब कुछ अवछन्न।

१—कौंसिल नाग झील प्रायः एक मील से अधिक के घेरे में है। ऊँचाई लगभग १२,८०० फुट है।

कापते बदन को गर्म वस्त्र से ढँक उस ओर शरण चाहती हूँ, जहाँ एकमात्र निरापद वृहत् चट्टान तले साथी स्टोव जलाने का विफल प्रयास कर रहे हैं।

—सत्यवती मल्लिक

हरिजनों की नदी

भरतीय जीवन में नदियों का विशिष्ट स्थान है। भारतीय कवियों और कलाकारों की कृतियों में नदियों और प्राकृतिक दृश्यों का अक्षुण्ण प्रभाव अंकित है। आर्यों की प्राचीनतम सम्पत्ति वेद में भी नदियों की स्तुति गाई गई है। 'उपह्वरे च गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत' (यजुर्वेद)। अर्थात् पर्वतों के आँगन में तथा नदियों के संगम में निवास करके मनन करने से ही विप्रपद अथवा ज्ञानोपद प्राप्त हो सकता है। ऋग्वेद में तो—'सरस्वतीमाविवासेम-धीतिभिः', सरस्वती नदी की परिचर्या की गई है।

हमारी संस्कृति का नदियों के साथ इतना अधिक सामीप्य का सम्बन्ध है कि गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु आदि नदियों को छोड़ देने से संस्कृति का पता ही न चलेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से भी आर्यों को यह सुरम्य देश यहाँ की नदियों को देखकर ही पसन्द आया, और इसीलिए वे यहाँ बस गये। मनुस्मृति ने आर्यावर्त्त की सीमा का निर्देश करते हुए—'सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्'—सरस्वती और दृषद्वती (वर्तमान ब्रह्मपुत्र) नदियों को ही आर्यावर्त्त की सीमा लिखा है। तात्पर्य इतना ही है कि वेद के उपर्युक्त वचन के अनुसार संस्कृति और नदियों का उद्गम-स्थान एक ही है। आप भारत के किसी भी अगम्य-से-अगम्य सुन्दर स्थान पर जायँ, जहाँ नदियों का उद्गम हो, जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य अट्टहास करता हो और प्रकृति माता जहाँ सदा युवती, अजरा, अमरा, अप्सरा के समान दीखे, वहाँ सर्वत्र आपको प्राचीन आर्यों के निवास का चिह्न मिलेगा। ऐसे ही स्थान आज भी कहीं सीता तथा कहीं भीम आदि

महापुरुषों के चरित्र से सम्बन्धित हैं, और हमारे प्राक्तन गौरव को आज तक नित्य नूतन सनातन बना रहे हैं।

सचमुच गंगा आदि नदियाँ हमारी संस्कृति की तथा हमारी जननी हैं। इन्हीं के जल से सींचे खेतों के अन्न आदि का उपभोग करके ही हम इतने बड़े बन कर खड़े हुए हैं। विदेशी दस्युओं और अनेक नरेशों के यहाँ आक्रमण हुए। सब-कुछ बदल गया; परन्तु आज भी अहंकार के साथ अपना अपूर्व नाद करती हुई ये नदियाँ बह रही हैं। इसीलिए इनको अक्षर और नदी कहा जाता है। 'नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति'

× × ×

देहरादून द्रोणाचल के सर्वथा निर्बाध आँचल में बसा, अपने सिर पर मसूरी का दिव्य मुकुट धारण किये, भारत माँ के अतीत साम्राज्य का स्मृति-चिह्न बना, अपने ढंग का एक निराला ही नगर है। देहरादून के पूर्व और पश्चिम में लगभग सामान अन्तर पर गंगा और यमुना उसकी सीमा पर दिन-रात कलकल निनाद के साथ पहरा दे रही हैं। इन दोनों की प्रेष्या के रूप में और भी अनेक नदियाँ बीच-बीच में देहरादून की ऋषि-भूमि को सरस बना रही हैं, जिनमें रिसपना और बिन्दाल दो मुख्य हैं। ये पर्वतीय नदियाँ देहरादून नगर के पूर्व और पश्चिम में बहती हैं। हमारे विचार में रिसपना ऋषिपणा का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है ऋषियों की स्तुति का स्थान, और बिन्दाल वन्दारु का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है देवता। इस प्रकार द्रोणाचल के इस विहारमय मनोज्ञ प्रदेश से ऋषियों और देवताओं का पुराना सम्बन्ध प्रतीत होता है। उक्त दोनों नदियाँ ही देहरादून ज़िले को पूर्वादून और पछवादून इन दो विभागों में विभक्त करती हैं।

× × × ×

एक भूगर्भ-विद्या-विशारद ने कहा है कि सिन्धु नदी की रेत में मिलकर सोना बहा करता है। रिसपना नदी भी बरसात के दिनों में

चाँदी बहा लाती है, इसका साक्षात्कार सैकड़ों वर्षों से देहरादून-वासी कर रहे हैं। बरसात में ढालू भूमि पर तीव्र गति से बहने वाली रिसपना के बहाव में हजारों मन चूने के पत्थर बह कर आते हैं। उन्हें सैकड़ों गरीब स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, जो मुख्यतया हरिजन होते हैं, सब मिलकर चुनते हैं। उन दिनों प्रतिदिन चुने जाने वाले पत्थरों के पहाड़-से ढेर रिसपना के किनारे लग जाते हैं। इन पत्थरों को एक खास भट्ठा में जलाकर चूना तैयार किया जाता है। चूना देहरादून का मुख्य व्यवसाय है। पत्थर चुनने से लेकर फूँकने तक किसी भी कार्य में मशीन का कोई उपयोग नहीं होता। वे हरिजन, जो पत्थर चुनने से फूँकने तक का व्यवसाय करते हैं, रिसपना के किनारे पर ही घर बना कर रहते हैं, और हाल में ही देहरादून के हरिजन-सेवक संघ ने हरिजनों की सुविधा के लिए एक नई बस्ती बसा दी है।

सायंकाल का समय। बरसात का मौसम। धूप और बादल में युद्ध-सा छिड़ा था। इस देवासुर संग्राम में हम ही न पिस जायँ, इसीलिए हम सब ने एक एक छाता ले रखा था। मेरे एक साथी के पास 'ऋषियों का छाता' भी था। वह पहाड़ में बहुत बनता है। पत्तों का बनाया जाता है। नीचे पकड़ने के लिए उसमें एक बाँस का टुकड़ा लगा दिया जाता है। पत्तों का बना होने से हम लोग कभी इसे 'ऋषियों का छाता' और कभी 'जापानी छाता' कहा करते थे। बरसात में हमारा सैरगाह रिसपना का कूल था, यद्यपि यह नदी है कूलंकषा। आज हम सैर के लिए घर से निकले थे।

'देखो तो रिसपना में दूर तक सैकड़ों बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष छोटी-छोटी टोकरियाँ हाथ में लिये रिसपना के एक फुट गहरे पानी में कुछ चुन रहे हैं। मालूम होता है, ये लोग मछलियाँ पकड़ रहे हैं। देखो, सामने एक वृद्ध और बालक में इसी पकड़-धकड़ में नोंकझोंक भी हो गई है।'—ऋषियों का छाता लगाये प्रह्लाद ने ऊँचे स्वर से कहा।

'ये लोग टोकरियों में ऊपर से बहकर आने वाले रत्नों को चुन रहे हैं।'—हर्षवर्धन बोला।

'रत्न चुनने वाले भी इतने ग़रीब ? रिसपना में यदि रत्नों की इतनी बहुतायत होती, तो सरकार इसपर अपना प्रभुत्व क्यों न कर लेती ?'—हम लोगों के एक तीसरे मित्र ने पूछा।

और तब हम सबको रिसपना के पानी में उतार ले गये। नदी का पानी अधिक-से-अधिक घुटने तक ही आता है। पानी में बहने वाले पत्थर चुनने वाले एक लड़के से उसकी टोकरी लेकर हमने सब को दिखाई और कहा—'इसमें जो सफ़ेद-सफ़ेद पत्थर हैं, इन्हें रत्न ही समझो।'

'कैसे ?'

'इन पत्थरों को इकट्ठा करके नदी के किनारे रखा जायगा। सामने देखो, इन्हीं पत्थरों का पहाड़-सा लगा है। इन सब को फिर चूने की भट्टी में जलाया जायगा। जल कर यही पत्थर चूना बन जायँगे और बाज़ार में बिकेंगे। इससे इन लोगों को हज़ारों रुपयों की आय होगी। यदि ये लोग संगठित हो जायँ, तो इनकी ग़रीबी दूर हो जाय और ये मालदार बन जायँ।'

'ये लोग दिन-भर और चाँदनी रात में कभी-कभी रात्रि को पत्थर चुनते हैं। एक छोटी-सी टोकरी का एक पैसा इनको मिलता है। इस प्रकार की बीसियों टोकरियाँ इनमें से प्रत्येक दिन-भर में चुन लेता है। जब ऊपर पहाड़ पर वर्षा होती है, तब चूने के पत्थर बहकर नदी में आते हैं, और ये लोग उन्हें चुन कर एकत्र करते हैं। कौन-सा पत्थर चूने का पत्थर है, यह बात यही जान सकते हैं और कोई नहीं।'

रिसपना के पत्थर चुन देहरादून के हज़ारों ग़रीब दोनों समय भरपेट रोटी खा लेते हैं, जिनमें अधिक संख्या हरिजनों का है।

ऋषिपर्णा बरसात में ही रुपये बहा ले आती हो, यही नहीं, बरसात बीत जाने पर भी देती है। बरसात के दिनों में जहाँ से होकर ऋषिपर्णा बह जाती है, उस स्थान को ये पत्थर चुननेवाले हरिजन खोदते हैं और जमीन के भीतर २०।२५ फीट नीचे चूने के बड़े-बड़े पत्थर मिलते हैं। उनको एकत्र करके पूर्वोक्त प्रकार से चूना तैयार

किया जाता है। सिन्धु नदी तो सोना बहा ले जाती है; परन्तु ऋषिपर्णा जहाँ-जहाँ से होकर गुज़रती है, वहाँ-वहाँ भूमि के भीतर ही रत्नों के बीज डाल जाती है। यह रत्नगर्भा वसुन्धरा को जलसे सींचकर अंकुरित होने की शक्ति दे जाती है।

× × ×

रात्रि के करीब आठ बजे थे। बादल गरज रहे थे। वैसे तो घर पर बैठे-बैठे भी रिसपना की कलकल ध्वनि सुनाई देती ही रहती थी; परन्तु आज असाधारण-सी आवाज़ आ रही थी। सोचा, ऊपर मसूरी में अधिक वर्षा हुई होगी और इस समय उसी प्रवाह के यहाँ आ जाने से इतनी अधिक आवाज़ हो रही है; परन्तु आवाज़ इतनी समीप थी कि हृदय न माना। मैं लैम्प लेकर बाहर आया, तो देखता क्या हूँ कि रिसपना नदी आज पूरे वेग के साथ मेरे घर से केवल दस कदम की दूरी पर बह रही है। मेरे और पड़ोसी घबरा रहे थे। गुरुकुल वाले 'बचाओ-बचाओ' का शोर मचा रहे थे। परन्तु प्रह्लाद और हम तो रिसपना से खूब परिचित थे, पड़ोसी जो ठहरे ? मैंने कहा—'शाम को वर्षा अधिक होने के कारण हम लोग रिसपना से मिलने जा नहीं सके, इसीलिए अब तक इन्तज़ार करके वह स्वयं हमारे ही घर पर आ गई है।' अभी ही अपने घर वापस चली जायगी। हुआ भी ऐसा ही। पूरे एक घंटे के बाद रिसपना वापस चली गई, कोई चिह्न भी न छोड़ गई।

प्रह्लाद और ध्रुव को साथ लेकर हम उस दिन की ग़ैरहाज़िरी के लिए क्षमा-याचना करने उसी समय रिसपना के घर गये। रास्ते में हरिजनों के घर थे। हमने देखा, हमारी करनी का फल इनको भी भोगना पड़ रहा है। उन बेचारों के घर समुद्र में बने-से प्रतीत होते थे। अन्दर-बाहर सब कहीं जल ही जल था। हम समवेदना प्रकट करना ही चाहते थे कि हमारी दृष्टि उस जलमय में लकड़ी लगाकर झूला झूलते हुए कुछ हरिजनों पर पड़ी। मालूम होता था, उन्हें घर बहने की कुछ भी चिन्ता नहीं। जितना हमें कष्ट हो रहा था, उनको उतना भी न था।

जिस रिसपना के कारण हजारों हरिजनों को दोनों समय भोजन मिलता है, ऐसी रत्नगर्भा नदी को यदि ऋषिपर्णा कहा जाय, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। महाकवि कालिदास ने सरयू नदी को उत्तर कोसल देश की 'सामान्य धात्री' कहा है। हमें तो ऋषिपर्णा देहरादून की सामान्य धात्री और हरिजनों की विशेष धात्री मालूम होती है, इसीलिए हम रिसपना अथवा ऋषिपर्णा को हरिजनों की नदी कहते हैं।

—धर्मदेव शास्त्री

मेरी कसौली यात्रा

यद्यपि मेरे लिए छुट्टी और काम के दिनों में विशेष अन्तर नहीं है—'न सावन सूखा न भादों हरा', तथापि जब छुट्टी होती है तब मैं भी अपनी छुट्टी मान लेता हूँ, और साल भर व्यग्र रहे बिना भी बड़े गर्व और गौरव के साथ छुट्टी मनाने आगरे से बाहर चला जाता हूँ। कथा नहीं सुनता तो कथा का प्रसाद अवश्य ले लेता हूँ। आगरा रह कर करूँ भी क्या? उन दिनों वहाँ विद्यार्थियों तथा शिक्षकों का जिनके सम्पर्क में मैं प्राय: रहा करता हूँ, ऐसा अत्यन्ताभाव हो जाता है, जैसे गधे के सर से सींगों का ड्रमंड रोड पर एक दिन वैधव्य-सा छा जाता है।

जो लोग किसी रमणीय या दर्शनीय स्थान में अपनी छुट्टी बिताने की आर्थिक सुविधा नहीं रखते वे बेचारे अपने घर चले जाया करते हैं। उन्हीं लोगों में से मैं भी हूँ। यद्यपि मेरा घर तो आगरे के पास ही है और मुझे कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, तथापि छुट्टियों के लिए मेरा घर फरीदकोट हो जाता है क्योंकि वहीं मेरे पिता जी रहते हैं। 'तहाँ अवध जहाँ राम निवासू'।

कुछ दिन फरीदकोट रहा। पूर्ण परिवार के साथ रहने का आनन्द उठाया। यद्यपि गर्मी वहाँ भी आगरे से कम न थी और धूप ऐसी कड़ाके की पड़ती थी कि 'छाहौं चहति छाँह' की बात चरितार्थ हो

जाती थी, तथापि सब लोग एक कमरे में, ('अहि-मयूर' 'मृग-बाघ' की भाँति नहीं.) लड़ाई के समय में दुर्गस्थ लोगों की भाँति, विद्युत्-व्यञ्जन की संरक्षता में समय बिता देते थे। रात्रि में खुली छतों के ऊपर तारक-विखचित गगन-वितान के नीचे सोने को मिलता था। फरीदकोट में पानी की टोट के कारण सूये (बम्बे) में प्रातः-सायं भैंसों की भाँति लोट-पोट होने चला जाया करता था। दिन सुख से बीत रहे थे। किन्तु लोभ बुरा होता है। अध्ययन का लोभ मुझे लाहौर घसीट ले गया, विशेषकर ऐसे समय में, जब वहाँ गर्मी ने उग्ररूप धारण कर रखा था। आगरे को लोग बहुत गर्म मानते हैं, और है भी; परन्तु उन दिनों आगरे और लाहौर की गर्मी में चूल्हे और भाड़ का-सा अन्तर प्रतीत होता था। बन्द कमरे में पंखे के नीचे भी अनलमय अनिल का सामना करना पड़ता था। इस गरम हवा के आगे बिहारी की विरहिणी नायिका की उच्छ्वास या जायसी की नागमती की विरह के अक्षरों से दग्ध पाती भी शायद शीतल मालूम होगी। पंखे से हटकर बैठने में स्वेद-सलिल की सरिता में निमग्न होना पड़ता था। इस गर्मी के आगे अध्ययन की सरगर्मी को सर झुकाना पड़ा। मैं चार रोज रहकर भागने वाला ही था कि बैठे-ठाले एक आफत और सर लग गई। "एकस्य दुखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ; तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।" 'गरीबी में आटा गीला।'

पाँच जुलाई की सायंकाल को पशु-पक्षियों की भाँति मैं अपने निवासस्थान को लौट रहा था। गर्मी के कारण गति भी मन्द न थी। दार्शनिक और तार्किक होता हुआ भी 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' के चक्कर में विचारमग्न भी न था। खूब सतर्क था, तो भी न जाने कहाँ से दो श्वानदेव (मालूम नहीं कैसे थे—पागल अथवा स्वस्थ, क्योंकि केवल पागल ही नहीं लड़ा बुद्धिमान मनुष्य भी लड़ा करते हैं।) आपस में मल्ल-युद्ध करते और रौद्र-रस के अनुभावों का पूर्ण प्रदर्शन करते हुए विद्युत्-गति से मेरी टाँगों के पीछे आ गये। मैं पीछे देखने भी न पाया था कि उनके नख मेरी टाँग में लग गये।

मेरे शान्तिमय स्पर्श से श्वान-मल्लों का विरोध शान्त हो गया। इसका मुझे गौरव है। मल्लों ने हारजीत बराबर मान अपने घर की राह ली, किन्तु मेरे पीछे एक बला लग गई। इसी को कहते हैं कि आपत्ति कोई मोल लेने नहीं जाता।

न्याय-शास्त्र के कर्त्ता महर्षि गौतम एक बार कुछ सोचते हुए चले जाते थे। बेचारे आगे न देख सके, और कुयें में गिर पड़े। भगवान् ने दया करके उनके पैरों में आँखें दे दीं, तभी से उनका नाम अक्षपाद पड़ा। यदि भगवान् ने उस समय सारी मनुष्य जाति के ये कम-से-कम अक्षपाद प्रभु के तार्किक अनुयायिओं के पैरों में नेत्र दे दिये होते, तो शायद मैं भी इस आपत्ति से बच जाता। नायक-नायिकाओं के नख-क्षतों का वर्णन साहित्य में पढ़ा था। यद्यपि उसमें भी थोड़ा पागलपन रहता होगा, तथापि उसके कारण किसी को कमरे से बाहर नहीं जाना पड़ता था। इन श्वान-महोदयों के नख-क्षत के कारण चौदह बार सूचिका-बेध (Injection) के प्रायश्चित की, बात की बात डाक्टर ने व्यवस्था दे दी। जिस प्रकार स्पर्शमात्र से मनुष्य कलंकित हो जाता है, उसी प्रकार कुत्ते के काटे हुए व्यक्तियों की गणना में मैं भी आ गया।

न्यायालयों में जब तक अभियुक्त पर जुर्म साबित न हो जाय, तब तक वह निर्दोष समझा जाता है, किन्तु चिकित्सालयों में कुत्ता जब तक गैर-पागल प्रमाणित न हो जाय, तब तक पागल ही माना जाता है। अपागल प्रमाणित करने की केवल एक विधि है—कुत्ते को बाँध रखा जाय। यदि वह दस दिन तक न मरे तो स्वस्थ है, अर्थात पागल नहीं और, यदि दस दिन के भीतर मर जाय तो पागल है। दस दिन की राह देखने में देरी हो जाने की आशंका से डाक्टर लोग इंजेक्शन फौरन ही शुरू कर देते हैं। यदि कुत्ता दस दिन में न मरा, तो इंजेक्शन बन्द कर देते हैं। कुत्ते का पता यदि निश्चित रूप से लग जाय तो उसको कम से कम दस दिन तक जीवित रहने के लिए भगवान् मृत्युञ्जय की आराधना करनी पड़ती है। पागल कुत्ते के मस्तिष्क की भी अनुवीक्षण-यंत्र (Miscroscope) द्वारा परीक्षा की जाती

है। यदि भावात्मक फल आया तब तो निश्चय हो जाता है कि कुत्ता पागल था। किन्तु उसके दिमाग में पागलपन के चिह्न न मिले, तो यह निश्चय नहीं होता कि कुत्ता पागल नहीं था। इसलिए दस रोज तक कुत्ते को महमान बनाकर उसकी प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर है। हँसी की दूसरी बात है, पर आशंका मात्र पर भी इंजेक्शन लेना परमावश्यक है। यदि एक बटा दशप्रतिशत भी आशंका हो, तो जान खतरे में न डालनी चाहिये। जान तो वैसे ही सदा खतरे में रहती है, किन्तु जान-बूझकर मौत की राह जाना ठीक नहीं। शरीर में जरा भी जहर प्रवेश कर जाय, और मनुष्य को हाइड्रोफोबिया अर्थात् जल-विक्षिप्तता (इस बीमारी वाला जल से डरता है। प्यास होते हुए भी पानी नहीं पी सकता।) हो तो वास्तव में कुत्ते की मौत मरना पड़ता है। यह रोग असाध्य हो जाता है। वह मनुष्य भी कुत्ते की तरह काटने को दौड़ता है। यदि उस मनुष्य की लार किसी को लग जाय तो उसे भी इंजेक्शन लेना आवश्यक हो जाता है। कुत्ते के नख या दन्त-स्पर्श होते ही तुरन्त अस्पताल में जाकर, क्षत को नश्तर से खुरचवाकर कास्टिक लगवा लेना चाहिये। इस क्रिया को 'कॉटेराइज' करना कहते हैं।

'शुभस्य शीघ्रम्' न्याय से डाक्टरों ने लाहौर ही में इंजेक्शन देना आरम्भ कर दिया। दो इंजेक्शनों में ही भूगोल का पढ़ा हुआ सत्य प्रमाणित होने लगा कि पृथ्वी घूमती है—यद्यपि इस टीके का वेक्सीन अब आगरे, लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानों के अस्पतालों में रहता है और जिस प्रकार सब स्थानों का गंगाजल पवित्र और मोक्षप्रद होता है, उसी प्रकार सभी स्थानों में इस टीके से पूर्ण लाभ होता है, तथापि जिस प्रकार हरिद्वार का कुछ और ही महत्त्व है, उसी प्रकार कसौली की भी विशेषता है। यदि दुर्भाग्य से किसी को गर्मी के दिनों में कुत्ता काटे, और उसे आर्थिक असुविधा न हो, तो अवश्य कसौली जाय वहाँ पर आतप की व्यथा कम व्यापती है।

मैंने भी फरीदकोट जाकर, किसी प्रकार माँग-जाँचकर गर्म कपड़े जुटाये और कसौली की राह ली। मैंने सोचा, कुत्ते ने काटा तो काटा,

कसौली की सैर तो हो जायगी। साहब लोगों की भाँति गर्मियों में शैल-शिखर-वास कर लूँगा। "बछिया मरी तो मरी आगरा तो देखा।" यहाँ पर आतप के भीषण ताप से बच जाऊँगा, और चतुर्दश (मुझे तो द्वादश ही लगे, क्योंकि दो लाहौर में लग चुके थे) सूचिका-बेध द्वारा पूर्वजन्म के पाप (मैं यह नहीं कहता कि इस जन्म में मैंने पाप नहीं किये) का प्रायश्चित हो जायगा। 'गोरस बेचन, हरि मिलन; एक पंथ दो काज' की बात चरितार्थ होगी। अस्तु भटिंडा और राजपुरा बदलता हुआ अम्बाला पहुँचा। वहाँ कुछ वर्षा भी हो चुकी थी। दूसरे वातावरण में प्रवेश हुआ। गाड़ी में कुछ नींद भी आई। कालका से दो एक स्टेशन पूर्व आँख खुली।

गाड़ी का लड़खड़ाती हुई चाल से प्रतीत हो गया कि हम लोग पर्वतीय प्रदेश में प्रवेश कर रहे हैं। गाड़ी में दो एञ्जिन थे तब भी वह नौ दिन में अढ़ाई कोस की चाल चल रही थी। ईषद्विच्छिन्न मेघावली में अरुणोदय बड़ा सुहावना लगता था। गम्भीर नीलिमा में स्वर्ण-रजत-मय प्रकाश की शलाकाएँ अपूर्व शोभा दे रही थीं। शीतल वायु के स्पर्श ने शरीर में एक अपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। अकारण हँसी आने लगी—लाहौर में तो हँसाये पर भी हँसी न आती थी। गर्म वास्कट धारण की, स्टेशन पर पहुँचा, कुलियों ने असबाब उतारा, और मैं प्लेटफार्म पर खड़ा हो गया।

मुझे शास्त्रीय ज्ञान तो था, अनुभवीय ज्ञान न था। धरमपुर का टिकट ले चुका था, क्योंकि रेलवे के टाइम टेबुलों में कसौली के लिए धरमपुर का ही स्टेशन बतलाया जाता है, वैसे कालका से कसौली के लिए मोटरें सस्ती मिल जाती हैं। 'पासच्युर इन्स्टीट्यूट' की एक छोटी-सी लारी भी नित आती जाती है। सड़क के रास्ते कालका से कसौली केवल २२ मील है, और रेल के रास्ते केवल २८ मील पड़ता है। वर्षा के समय रेल में कुछ सुविधा रहती है। खैर, धरमपुर पहुँचा। वहाँ के स्टेशन का वातावरण बड़ा शान्त है। पहाड़ी स्टेशनों का वातावरण प्रायः ऐसा ही होता है। वर्षा हो रही थी। मोटर मिलने में कुछ कठिनाई अवश्य हुई किन्तु सकुशल कसौली आ गया।

'पासच्युर इन्स्टीटयूट' में गरीबों के लिए मुफ्त ठहरने का स्थान है, और अमीरों के लिए आठ आना रोज पर अच्छे कार्टर मिल जाते हैं। विक्टोरिया होटल भी अच्छा है। गरीबों के कार्टर तो जैसे मुफ्त के कार्टर होते हैं, वैसे ही होते हैं, किन्तु यहाँ गरीबों के लिए कम्बल और बर्तन भी मिलने हैं। खाने के लिए बालिग़ आदमी को छः आने रोज और बच्चे को तीन आने रोज मिलते हैं। मुझे तो छोटे भाई के पुण्य-प्रताप से क्लब के पास एक अच्छा स्थान मिल गया था। मैं कोठी के मालिक के लिए हृदय मे अनुग्रहीत हूँ। हाँ, वह स्थान बड़ी ऊँचाई पर था। चढ़ते-चढ़ते राम याद आते थे। कबीरदास जी की ऊँचाई का आदर्श तो लम्बी खजूर ही है (आखिर मुसलमानी संस्कार कहाँ जाते ?)। वे तो साईं का घर भी लम्बी खजूर की ही बराबर दूर बतलाते हैं, लेकिन मैं जहाँ ठहरा था, वह स्थान बहुत ऊँचा था। खजूर से ऊँचे तो यहाँ के चील के दरख्त होते हैं। (कसौली को समुद्र की सतह से ५००० फीट ऊँचा बतलाते हैं। मुझे ५००० फीट नहीं चढ़ना पड़ा) मेघ भी पर्वत-शृगों के आगे ऊँचे मालूम नहीं होते।

यहाँ वर्षा प्रायः नित्य होती है। बिना छाता बरसाती के काम नहीं चलता तभी तो कालिदास का यक्ष मेघ का आर्द्रता (दयार्द्रता) का अनुभव कर इसको अपनी विरह-गाथा सुना कर अपनी प्रियतमा के लिए सन्देश-वाहक बनाना चाहा था। जो अपने निकट होता है उसी से बातें की जाती हैं।

कसौली कुत्ते के काटे वालों के लिए तो प्रधान तीर्थस्थान है ही, किन्तु यहाँ जो लोग रहते हैं, वे सब कुत्ते के काटे हुए हो नहीं रहते। यहाँ पर एक बहुत सुन्दर छावनी है। यहाँ की सड़कें बहुत रमणीक हैं। चढ़ाव-उतार की और चक्करदार अवश्य हैं, किन्तु उनके दोनों ओर खूब हरियाली रहती है। कुछ स्वाभाविक उपज है और कुछ लगाई हुई हैं। बाजार भी अच्छा है। यहाँ पर गिरजाघर, क्लबघर, बारकें, डेरी आदि देखने योग्य हैं। मंकीपाइन्ट अर्थात् बानर-शृङ्ग यहाँ का उच्चतम शिखर है। जाड़े में खूब बरफ पड़ती और आबादी कम हो जाती है।

कसौली का कुत्ते का अस्पताल (नहीं-नहीं, कुत्ते के काटे हुए मुफ्त ऐसे आदमियों का अस्पताल) 'पासच्युर इन्स्टीट्यूट' बहुत बड़ी संस्था है। 'पासच्युर' एक फरासीसी डाक्टर का नाम है, जिन्होंने पहले-पहल इस प्रकार के इलाज की ईजाद की थी। इन्हीं के नाम पर इस संस्था का नाम पड़ा है। यहाँ करीब ७० या ८० आदमी काम करते हैं। इंजेक्शन देने के लिए भी कई डाक्टर रहते हैं। जख्मों के ड्रेसिंग का अलग प्रबन्ध है। नखों और दाँतों के चिन्हों की गहराई और संख्या के हिसाब से रोगियों की चार कक्षाएं की जाती हैं। चौथे वर्ग के लोगों से इंजेक्शन लगना शुरू होता है और नम्बरवार इंजेक्शन लगते जाते हैं। जब से इंजेक्शन का सामान तैयार होकर बाहर जाने लगा है, तब से यहाँ रोगियों की संख्या घट गई है। करीब बीस और तीस के बीच में हाजिरी रहती है।

इस इंस्टीट्यूट में इंजेक्शन लगने के अतिरिक्त वेक्सीन और सीरम भी तैयार किये जाते हैं। इसके लिए यहाँ पर बहुत से खरगोश और भेड़ें भी रहती हैं। बन्दरों पर तैयार किये हुए वेक्सीन और सीरम की परीक्षा होती है।

इस इंस्टीट्यूट के अतिरिक्त यहाँ पर एक सेन्ट्रल रिसर्च इंस्टीट्यूट अर्थात् केन्द्रीय गवेषणा-संस्था भी है। यहाँ पर साँप के काटे, प्लेग, कालरा आदि के इंजेक्शनों का सामान तैयार किया जाता है। यह संस्था 'पासच्युर इंस्टीट्यूट' से भी अधिक महत्व की है, किन्तु लोग इसे कम जानते हैं। यहाँ से सहस्रों रुपये का वेक्सीन हिन्दोस्तान भर में जाता है। इस संस्था में एक घोड़े की तसवीर है जिसके द्वारा १०,०००) का साँप के काटे का सीरम तैयार कराकर बाहर भेजा गया है। इस सीरम को ऐंटीवेनम् अर्थात् जहरमोरा कहते हैं।

यहाँ के कन्टूनमेंट मजिस्ट्रेट मेरे मित्र निकले, उन्हीं की कृपा से यह सब देखने को मिला। दुनिया बहुत बड़ी नहीं है, हर जगह कुछ-न कुछ जान-पहिचान निकल आती है। बारह दिन कसौली रह कर खूब सैर की। अकेले रह कर स्वावलम्ब का पाठ पढ़ा। यद्यपि उस कोठी का मुसलमान बैरा मेरी बहुत कुछ मदद करता था तथापि थोड़ा

बहुत खाना मैं स्वयं बनाता था। एक वक्त होटल में खाता था। सबसे अच्छी यह थी कि कुछ दिन के लिए पुस्तकों से छुट्टी मिल गई। बाजार में हिन्दी की पुस्तकों का अभाव था। अँग्रेजी के दो उपन्यास पढ़े और यह लेख लिखा। कसौली-यात्रा का इतना ही साहित्यिक महत्त्व था।

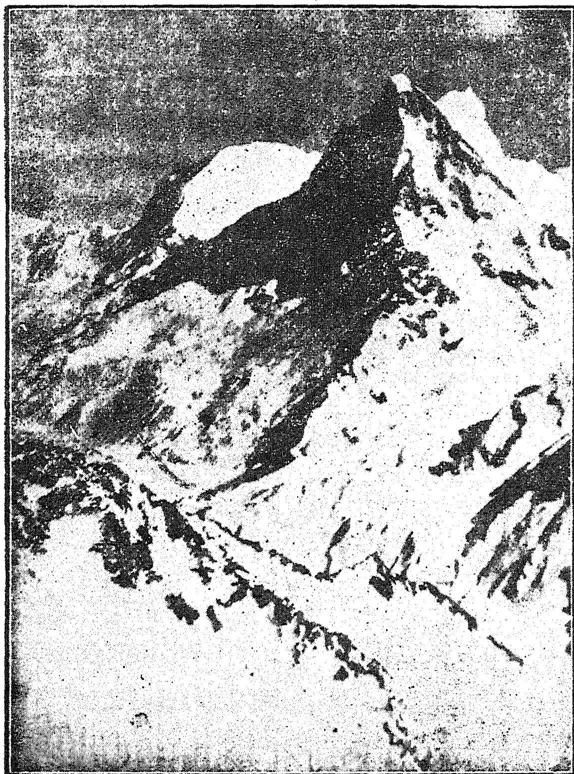
—गुलाबराय एम० ए०

कैलास

शिव और पार्वती का क्रीड़ास्थल कैलास हिमगिरि की धवल सौन्दर्य राशि से आच्छादित प्रकृति का वैचित्र्यागार है। हिन्दू तथा बौद्ध-संस्कृति में इस स्थान का बड़ा महत्त्व है। इसकी सबसे ऊँची चोटी २२०२८ फ़ुट ऊँची है जिसे बहुत दूर से ही देखा जा सकता है। इसके चारों ओर सफ़ेद बर्फ़ से आच्छादित हिमालय की अन्य कम ऊँची चोटियाँ हैं। मानसरोवर और राखस झील के निकट पहुँचने पर इसकी अद्‌भुत छटा का दर्शन होने लगता है। कैलास के चारों ओर चार मठ बने हुए हैं जिनमें से डिंडीफू 'गोंपा' मठ कैलास से बहुत निकट है। अतएव जब पर्यटक इस मठ के पास पहुँचता है तब उसे कैलास स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

कैलास की यात्रा यद्यपि कष्टप्रद है परन्तु चारों ओर बिखरे हुए प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य का निरीक्षण करने में यात्री इस प्रकार आनन्द-विभोर हो जाता है कि उसे यात्रा के कष्ट का अनुभव नहीं होने पाता। अल्मोड़ा से कैलास २५० मील है परन्तु यात्रा में बहुत समय लग जाता है। अल्मोड़ा से यात्रा खच्चर पर करनी पड़ती है। हिन्दुओं के लिए तिब्बत जाने के लिए किसी प्रकार की राजनीतिक रोक नहीं है परन्तु योरपीयों को तिब्बतवाले अपने देश में आने देना पसन्द नहीं करते। कारण यह है कि वे अपने देश को पवित्र धर्म का देश समझते हैं और किसी विधर्मी-द्वारा उसे अपवित्र होने देना वे पसन्द नहीं करते।

कैलास का मार्ग हिमालय पहाड़ की चोटियों और दर्रों से होकर जाता है। यह मार्ग वर्ष के अधिकांश भाग में बर्फ़ से आच्छादित रहता है। इसलिए यात्रा असम्भव हो जाती है। परन्तु वैशाख के



हिमालय

अन्त तक बर्फ़ पिघल जाती है और रास्ता आने-जाने योग्य हो जाता है। उस समय बहुत-से यात्री खच्चरों पर अपनी गृहस्थी लादे तिब्बत की ओर बढ़ते दिखाई पड़ते हैं। श्रावण के अन्त तक फिर बर्फ़ गिरने लगती है इसलिए तब यात्रा भी असम्भव हो जाती है।

अलमोड़े से कैलास जाने के लिए दो प्रमुख मार्ग हैं। पहला तो सरयू नदी उपत्यका से मिलम तक जाता है और फिर वहाँ से उत्धुरा (१७७०० फुट), जयन्ती (१८६०० फुट) और गिगरी-मिगरी (१८६०० फुट) दर्रों से होता हुआ तिब्बत के प्रसिद्ध बाज़ार ज्ञानिमा तक जाता है। परन्तु यह मार्ग दुर्गम है और यात्रियों के लिए उपयुक्त नहीं है। कैलास की यात्रा करनेवाले प्रायः एक दूसरे मार्ग से जाते हैं जो इतना दुर्गम नहीं है। यह गरबियाङ्ग से लिपुलेक दर्रे से होता हुआ तकलाकोट के निकट तक जाता है। खच्चरों-द्वारा यह मार्ग चार महीने में तै किया जा सकता है। यह यात्रा अत्यन्त चित्ताकर्षक होती है। यह हिमालय की शृङ्खलाओं के बीच से जाता है जहाँ थोड़ा-थोड़ी दूर पर भोटिया जातिवालों के छोटे-छोटे गाँव बसे हैं। भोटिया लोग बड़े ही दिलचस्प होते हैं। यद्यपि ये तिब्बती जाति के वंशज हैं परन्तु अपने को ये हिन्दू बतलाते हैं। इनका व्यवसाय व्यापार है। प्रतिवर्ष ये भारत से चावल, गेहूँ, कपड़े आदि लेकर तिब्बत जाते हैं और उन्हें वहाँ बेचकर वहाँ से नमक, ऊन इत्यादि अनेक प्रकार के सामान लेकर भारत वापस आते हैं। भोटिया जाति बड़ी ही परिश्रमी होती है। यदि भोटिया अपने परिश्रम से तिब्बत निवासियों के लिए यहाँ से भोजन की सामग्री न ले जायँ तो सम्भवतः तिब्बतियों को भूखों मरना पड़े; क्योंकि तिब्बत का पठार ऊजड़ है जहाँ एक भी पेड़-पौधा देखने को नहीं मिलता।

भोटिया जाति का निवासस्थान गोरी गङ्गा की घाटी में है। गोरी गङ्गा की सँकरी उपत्यका में थोड़ी-थोड़ी दूर पर उनके छोटे-छोटे घर बने हुए हैं। यह उनका शीतकाल का निवासस्थान है। शरद् ऋतु के समाप्त होते ही वे लोग अपने परिवार के साथ तिब्बत की ओर प्रस्थान कर देते हैं। अपने गाँवों के आस-पास वे खेती भी करते हैं। भोटिया बड़े साहसी और दृढ़ होते हैं। तिब्बत का यह मार्ग अत्यन्त भयङ्कर और कष्टप्रद है परन्तु फिर भी भोटिया लोग बिना किसी प्रकार के भय या कष्ट का अनुभव किये हुए प्रति वर्ष इसी मार्ग से यात्रा करते हैं।

मार्ग का दृश्य अत्यन्त चित्ताकर्षक है। पहाड़ की ऊँची-ऊँची

चोटियों के बीच से होकर यह मार्ग गया है। नन्दादेवी, नन्दकोट और त्रिशूल का पहाड़ी सौन्दर्य तो यात्री को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए समर्थ है। वहाँ पर पहुँच कर हमें ज्ञात होता है कि हिमालय की पर्वत-शृङ्खलाओं के मध्य कितना विचित्र सौन्दर्य है। मार्ग में गैरबियाङ्ग अन्तिम ब्रिटिश-स्टेशन है। यह स्थान १०३०० फ़ुट ऊँचे पठार पर स्थित है। यहाँ नेपाल की सीमा पर स्थित हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियाँ हैं जिनके कारण गैरबियाङ्ग और भी आकर्षक प्रतीत होता है। यात्री लोग यहाँ पहुँच कर कुछ दिन तक आराम करने के लिए अवश्य रुक जाते हैं। उसके पश्चात् वे तिब्बत की भूमि में यात्रा करना प्रारम्भ करते हैं।

यहाँ शीत बहुत अधिक पड़ता है। गर्मी के दिनों में भी यहाँ शीत इतना अधिक पड़ता है कि यात्रियों को बहुत कष्ट होता है। तकलाकोट पहुँचने पर तिब्बत का वृक्षहीन पठार दिखाई पड़ने लगता है। नगरों के कोलाहलपूर्ण वातावरण से आने वाले यात्री को यहाँ का नीरव सौन्दर्य अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है। यहाँ आने पर एक बार हृदय में यह भाव अवश्य ही उत्पन्न होता है कि प्राचीन काल में भारत के ऋषि-मुनि यदि यहाँ एकान्त में रह कर योगाभ्यास करते थे तो यह उनके लिए ठीक भी था। यहाँ प्रकृति की विशद सम्पन्नता का अनुभव होने लगता है। तकलाकोट करनाली नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ है। यह नदी बहुत ही साधारण है तथा इसमें पानी की अपेक्षा कीचड़ अधिक है। नदी के दूसरे किनारे पर एक छोटी पहाड़ी के ऊपर एक 'गोंपा' बना हुआ है। बौद्धों का यह मठ बहुत ही प्रसिद्ध है तथा इसमें बहुत-से बौद्ध साधु रहते हैं। मठ का अध्यक्ष लामा कहलाता है। तकलाकोट तिब्बत का एक बड़ा बाज़ार भी है। बाज़ार के दिनों में आस-पास की ही नहीं, काफ़ी दूर की जनता यहाँ क्रय-विक्रय के लिए एकत्र होती है। क्रय-विक्रय के लिए तिब्बत वाले 'तङ्का' का प्रयोग करते हैं। एक 'तङ्क' का मूल्य दो आने के लगभग होता है। परन्तु यह सिक्का अधिक नहीं चलता। यथार्थ में तिब्बत-निवासी ऊन, नमक इत्यादि के

परिवर्तन में भोटिया व्यापारियों से अपनी आवश्यकता की सामग्री ख़रीदते हैं।

शीत की अधिकता के कारण तिब्बत-निवासी जल का प्रयोग बहुत कम करते हैं। इसलिए वे प्राय: गन्दे होते हैं। उनके कपड़ों पर मैल की तह जमी होती है। वे लोग अपने बालों को नहीं बनाते। तिब्बती बड़े ही सीधे और भोले होते हैं। बाह्य संसार का पता उन्हें यात्रियों-द्वारा ही मिलता है। जब कोई यात्री इनके देश में पहुँचता है तो वे सब उसे घेर कर खड़े हो जाते हैं और उसकी एक-एक वस्तु को कुतूहल और आश्चर्य के साथ देखने लगते हैं। तकलाकोट से कैलास का मार्ग अधिक दुस्तर है। मार्ग में कई बौद्ध मठ तथा 'पत्थर की पवित्र दीवालें' मिलती हैं। मानसरोवर झील के पास बौद्धों का मठ बना हुआ है। मानसरोवर झील को बौद्ध तथा तिब्बत वाले बहुत पवित्र मानते हैं। इसका पानी इतना शीतल है कि इसमें स्नान करना कठिन है परन्तु पीने में यह जल अत्यन्त सुस्वादु है।

तिब्बत में कुछ उत्पन्न नहीं होता इसलिए यहाँ के निवासियों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी सामग्री बाहर से ही मँगानी पड़ती है। चाय, सत्तू, मक्खन, दूध यही उनका मुख्य भोजन है। फल और तरकारी तो उन्हें शायद कभी देखने के लिए भी नहीं मिलती। उनका जीवन नीरस तथा बिना किसी आकर्षण के ही व्यतीत होता है। अपना अधिकांश समय ये अपनी भेड़ों का ऊन कातने में व्यतीत करते हैं। मानसरोवर के पास कई बौद्ध मठ हैं जो मानसरोवर की सौन्दर्य-वृद्धि के साथ-साथ यात्रियों के लिए सुविधा का भी प्रबन्ध करते हैं। यदि ये मठ न होते तो यात्री शायद उस पवित्र झील का दर्शन करने का साहस भी इतनी बड़ी संख्या में न करते। इनमें से एक मठ 'डिंडीफू' नामक भी है जिसके निकट गौरीकुण्ड का मनोहारी दृश्य है।

शिवजी का यह अजेय दुर्ग कैलास अपनी विचित्रताओं और

अलौकिकताओं के कारण शताब्दियों से संसार के लिए एक अपूर्व आकर्षण बना हुआ है।

—'मधुप'

शिमला से

[१]

प्रियवर, मैं तुम्हारी पृथ्वी से बहुत दूर, मानो किसी गन्धर्व लोक में, आ गया हूँ। अभ्रम्भेदी गिरिराज के अङ्क में यह लोक बसा है। यहाँ विलासियों का श्री-निकेतन है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यहाँ के लोगों को जरा, मृत्यु और व्याधि का भय ही नहीं है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि चिन्ता से ग्रस्त लोग भी यहाँ आकर अपनी सारी चिन्तायें भूल जाते हैं। यही जान पड़ता है कि मनुष्य का सारा जीवन ही एक क्रीड़ा है, लीला है, विलास है, सुख-स्वप्न है। यह बात नहीं है कि सभी लोग यहाँ श्रीमान् ही हैं। यदि सभी श्रीमान् हो जाते तो उन श्रीमानों की सेवा ही कौन करता। जहाँ श्रीमान् हैं वहाँ दरिद्रों की आवश्यकता है। उन्हीं से उनकी श्री-वृद्धि होती है। जहाँ ऐश्वर्य है, जहाँ विलास है वहाँ दुःख और दारिद्र्य न हो तो ऐश्वर्य की महत्ता कैसे प्रकट होगी। जहाँ प्रभु हैं वहीं भृत्य होंगे; जहाँ शासक है वहाँ शासित होंगे ; जहाँ विलास है वहाँ दारिद्र्य होगा।

यों तो भारत में कई पहाड़ हैं जहाँ हमारे शासकों के ग्रीष्मकालीन विहार-स्थल हैं, किन्तु उनमें सबसे रमणीय वे स्थान हैं जो भारत-मुकुट-मणि हिमालय पर स्थित हैं। उनमें मुख्य ये हैं, शिमला, मसूरी, नैनीताल, और दारजिलिङ्ग। राजनैतिक दृष्टि से शिमला ही इनमें सबसे मुख्य है क्योंकि भारत के वाइसराय ग्रीष्मकाल में यहीं निवास करते हैं। एक तरह से तो छः मास के लिए—अप्रेल से सितम्बर तक—शिमला ही भारतवर्ष की राजधानी हो जाता है। शिमला का वर्णन करते हुए एक लेखक लिखता है कि "शिमला का यह छोटा

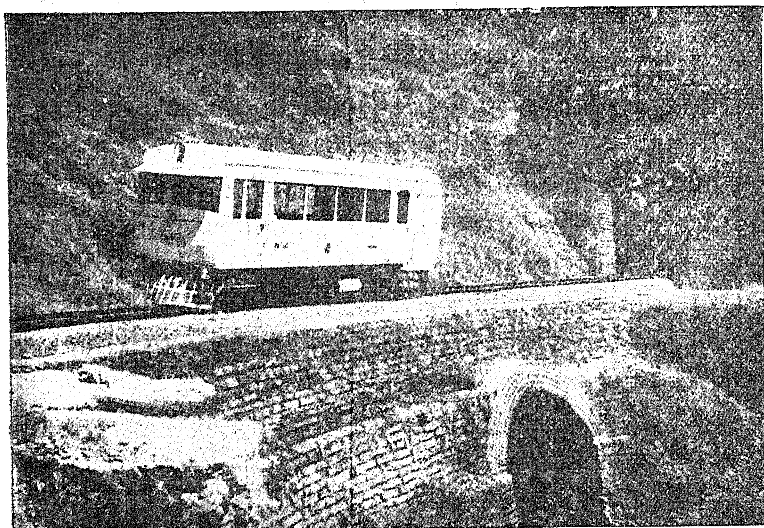
शहर भारतीय साम्राज्य की राजधानी है। भारत के कितने ही राजे, महाराजे और उच्चपदस्थ कर्मचारी तथा विदेशों के कितने ही श्रीमान् यात्री यहाँ के सब बाजारों में घूमते दिखाई देते हैं। छः मास तक लगातार ऊँटों और बैलों की लम्बी-लम्बी कतारें भारत में प्राप्य ऐश्वर्य सामान लाकर यहाँ ढोती रहती हैं। हजारों सुन्दर छोटे-छोटे बँगले यहाँ के आस-पास की पहाड़ियों पर बने हुए हैं। यहाँ प्रतिदिन साफ सड़कों पर ग्रीष्मकाल में सन्ध्या के समय नये-नये फैशन तथा सौंदर्य की एक प्रदर्शिनी सी हो जाती है।"

शिमला जाने के लिए हमें कालका जाना पड़ता है, यह एन० डबल्यू० रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ से शिमला जाने के लिए दो राह हैं; एक तो मोटर का रास्ता और दूसरा रेलवे का। मोटर की सड़क का काम सन् १८५० ई० में आरम्भ हुआ था और रेल के बनने के पहिले मोटर ही से सब आते-जाते थे। आज भी कितने ही यात्री मोटर से जाते हैं। यह सड़क कोई ५८ मील लम्बी है। इसको बनाने में इञ्जीनियर ने अपनी सारी बुद्धि लगा दी है। सड़क पहाड़ के ऊपर ऐसे ढंग से निकाली गई है कि चढ़ाव ज्ञात नहीं होता है। कालका से कोई १४ मील पर धरमपुर आ जाता है, जहाँ क्षय-रोग के रोगियों के लिए सेनिटोरियम भी है, और यहीं से कसौली को रास्ता जाता है। यहाँ एक डाक बँगला है। रेलवे-स्टेशन पर खाने-पीने के लिए सामान मिल सकता है। यहाँ से सबाथू जाने को एक राह है, जहाँ कुष्ठ के रोगियों की चिकित्सा होती है। आगे यह सड़क डागशी पहाड़ी के तले होकर निकली है। इस पहाड़ी पर सेना रहती है। यद्यपि यहाँ सघन वृक्ष हैं; किन्तु सुदूर पर बने हुए बैरक आदि दिखलाई देते हैं। आगे कुमरहट्टी का छोटा सा गाँव मिलता है जहाँ से बड़ोघाट की चढ़ाई शुरू होती है। कोई ढाई मील जाने पर हम उस पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से सोलन की तलहटी का अच्छा दृश्य दिखाई देता है। यहाँ से फिर उतार शुरू हो जाता है। कुछ दूर तक तो झाड़ी बड़ी ही सघन है। यहाँ की सड़क बड़ी ही विकट है। एक ओर तो ऊँचे-ऊँचे कगार दिखाई देते हैं और दूसरी ओर गहरे

गह्वर। आगे कोई मील भर की घाटी के बाद हम सोलन पहुँच जाते हैं। यहाँ का डाक-बँगला बहुत अच्छा है और प्रायः प्रत्येक यात्री यहाँ कुछ खा-पी लेता है और फिर आगे चढ़ता है। थोड़ी दूर से फिर उतार शुरू हो जाता है जो कंडाघाट में जाकर बन्द हो जाता है। कंडाघाट से चेल, जो पटियाला महाराज की ग्रीष्मनिवास-स्थान है, एक सड़क जाती है। यहाँ नीचे आशनी नदी भी नज़र आती है। कंडाघाट के आगे कोई पाँच मील तक चढ़ाव है. यहाँ कियारीघाट का एक डाक-बँगला है। यहाँ से राह सीधी और समतल है; किन्तु कथलीघाट के बाद चढ़ाव फिर शुरू हो जाता है। हम शोगी पहुँचते हैं और आगे तारादेवी। यहाँ अलीगढ़ डेअरी फार्म की एक ब्रांच है। तारादेवी से कोई तीन मील पर शिमला म्युनिसीपालटी की हद शुरू होती है।

यह तो मोटर आने-जाने की राह है, रेल की यात्रा का विवरण भी आपको बतलाता हूँ। कालका से शिमला के लिए जो रेलवे-लाइन निकली है वह दो फ़ीट छः इंच की छोटी लाइन (Narrow Gauge) है। कालका से ही रेल हिमालय की अगण्य श्रेणियों पर चढ़ने लगती है। यहाँ इञ्जिनियरों ने रेलपथ को ऐसी ख़ूबी से निकाला है कि देख कर आश्चर्य होता है। कालका से कुमरहट्टी तक लगातार चढ़ाव ही चढ़ाव है। यहाँ से थोड़ी दूर पर ट्रेन बडोग के बोगदे में घुसती है। यह बोगदा ३,७०० फ़ीट लम्बा है। इससे निकलते ही बडोग का स्टेशन आ जाता है, जहाँ यात्रियों के खाने, पीने का पूर्ण प्रबन्ध किया गया है और उनके सुभीते के लिए रेल आध घण्टा ठहरती है। बडोग में यात्रियों को प्रथम बार पहाड़ों की शान्ति तथा शीतलता का आभास होता है तथा उन्हें मैदान की लू का डर नहीं रहता। यहाँ से कंडाघाट तक ट्रेन उतरती रहती है। कंडाघाट के बाद ट्रेन फिर चढ़ने लगती है, और जहाँ तक शिमला नहीं आ जाता है, चढ़ती ही जाती है। ज्यों-ज्यों ट्रेन पहाड़ पर चढ़ती जाती है, यात्रियों को एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है। एक ओर तो गगन-स्पर्शी गिरि-शृङ्ग दिखाई देते हैं और दूसरी ओर ट्रेन से थोड़े ही फ़ीट की दूरी पर कोई हज़ार

फीट गहरा विकराल गह्वर मुंह बाये दिखाई देता है मानों यात्रियों को



शिमला की बिजली की रेल

यह सूचित कर रहा है कि ऐश्वर्य-लोलुपों के लिए कराल काल अपना विकराल विवर फैलाये हुए है।

इस सड़क पर कोई १०३ तो बोगदे हैं, जिनकी लम्बाई पाँच मील के ऊपर है। इस सड़क को बनाने में १,८०,००,००० रु० खर्च किया गया था। अन्त में सुदूर स्थित शिमला दिखाई पड़ने लगता है, जिससे नवीन यात्रियों के हृदय में कुतूहल का भाव उमड़ने लगता है। आखिर शिमला आ ही जाता है।

[२]

अब मैं तुमको ज़रा शिमला की सैर करा देना चाहता हूँ। यहाँ पहाड़ों पर घूमने के लिए सिर्फ़ रिकशा ही मिलती है। हाँ, अगर हम कोशिश करें तो किराये पर घोड़े भी मिल सकते हैं।

यहाँ का सबसे खुला मैदान रिज है। यहाँ पूर्व की ओर क्राइस्ट चर्च है। यहाँ आपको सन्ध्या के समय अंग्रेज़ बच्चों के लिए दाइयाँ बैठी दिखाई देती हैं। इसी मैदान में प्रतिवर्ष भारत-सम्राट् के जन्म-गाँठ के उत्सव में परेड होती है। हिमालय के शृङ्ग पर ब्रिटिश-सिंह की जय-पताका प्रदर्शित होती है। एक ओर पश्चिम की तरफ़ कुँवर जीवनदास, जबलपुर द्वारा बनाया हुआ बैंड-स्टेण्ड है। यहाँ प्रति सोमवार की संध्या को बैंड बजाया जाता है। यहाँ से पूर्व की ओर जेको नामक चोटी दिखाई देती है, उत्तर में हिमाच्छादित चोटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुम्हें यह देख कर आश्चर्य होगा कि प्रत्येक राहगीर किसी न किसी काम में व्यस्त-सा चला जा रहा है, मानो उसके लिए कुछ है ही नहीं। थोड़ी ही दूर पर पहाड़ियों तथा घाटियों का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। यह दृश्य सुन्दरता की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जब सुदूर हिमाच्छादित चोटियाँ वृक्षों से ढकी हुई पहाड़ियों के पीछे स्पष्ट दिखाई देती हैं। दूसरी ओर हमें मैदान दीख पड़ता है तथा नीचे सतलज नदी एक लकीर के सदृश नज़र आती है। इस सुन्दरता को प्रकृति के प्रेमी ही जान सकते हैं, तथा उसमें आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। जो मनुष्य इस स्थान से निकलते हैं और प्रकृति के इस शुद्ध तथा सुन्दर दृश्य में कुछ नहीं देख पाते हैं; तभी जान पड़ता है कि मनुष्य ने अपने आपको कितना कृत्रिम बना लिया है। उसे प्रकृति के शुद्ध तथा सुन्दर दृश्यों में आनन्द तथा सुख का अनुभव नहीं होता। उसे अपने नेत्रों की तृप्ति के लिए मनुष्य-द्वारा निर्मित मकान तथा वस्तुएँ ही चाहिए। मनुष्य के लिए बाज़ार में जो आकर्षण होता है वह पहाड़ की इन गगन-चुम्बी चोटियों, गहरी घाटियों तथा सुदूर-स्थित मैदान की शान्ति में नहीं मिलता है।

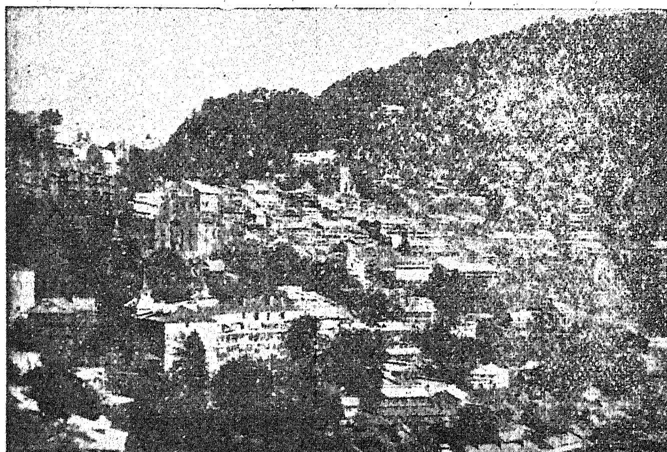
अब कहो, तुम्हें किधर ले चलूँ। गिरजे की बाईं ओर एक रास्ता जाता है। चलो उसी राह चलें। इस रास्ते पर हमें लक्कड़बाज़ार मिलेगा। यहाँ लकड़ी पर खुदाई का तथा लकड़ी में पीतल या हाथी-दाँत की जड़ाई का सुन्दर काम दूकानों में देखने को मिलता है। यहाँ की दूकानें ख़ासकर सिक्खों की हैं। आगे हमें भारत के जंगीलाट



शिमला

की कोठी "स्नोडान" नज़र आती है। यह मकान पहले लार्ड राबर्ट्स का था; किन्तु लार्ड किचनर के समय से जंगीलाट यहाँ ही रहते हैं। यहाँ से आगे चलने पर हमें मशोबरा नामक पहाड़ी चोटी नज़र आती है और उसके पीछे शाली नामक चोटी देख पड़ती है, जिसकी ऊँचाई ८,५०० फ़ीट है। कुछ आगे मेयो स्कूल तथा अनाथालय दिखाई देते हैं और आगे संजोली नामक गाँव आता है। यह गाँव अपनी स्थिति के कारण दूर से बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता है। यहाँ से दो रास्ते हो जाते हैं; एक तो संजोली के बाज़ार में होता हुआ आगे चला जाता है, दूसरा "लेडीज़ माल" नामक सड़क की ओर। यह पथ दाहिनी ओर का है; यह लार्ड लिटन के शासन-काल में बना था। यह सड़क चौड़ी और समतल है। इसकी सुन्दरता किनारे-किनारे लगी हुई घनी झाड़ी से बहुत बढ़ गई है। यह राह पहाड़ के मोड़ के साथ मुड़ती गई है। कोई आधी दूर पर हमको वे चट्टानें दिखाई देंगी जिन पर पहाड़ में से पानी के साथ बहकर निकले हुए खनिज पदार्थ जम गये हैं। उन चट्टानों पर पानी के बहने के चिह्न भी स्पष्टतया अंकित हैं। इनका नाम रक्खा गया है—डेविल्ज़ पेण्ट बाक्स—अर्थात् शैतान के रंगों की पिटारी। यहाँ लेडीज़ माल में से एक सड़क निकली है, जिसका नाम है लवर्स वाक (Lovers, Walk) अर्थात् प्रेमियों का पथ। कैसा विचित्र नाम है! इस पर हमें प्रकृति के उपासक तथा भ्रमण के इच्छुक पुरुष मिलेंगे। इस सड़क पर प्रातःकाल में अच्छी छाया रहती है; यहाँ सर्वत्र दूर तक शान्ति छाई हुई है, जो अगर कभी भंग होती है तो किसी शौकीन सवार तथा अँगरेज़ युवतियों के घोड़ों के टापों की आवाज़ से। इस स्थान को देखकर शान्ति तथा एकान्तवास के प्रेमियों का हृदय प्रसन्न हो जाता है। यह राह बहुत ही समतल है। यहाँ से पंजाब गवर्नर के रहने का स्थान "बानर्स कोर्ट" की ओर एक राह जाती है। इस भवन का नाम सर एडवर्ड बानर्स की यादगार में रखा गया है। ये बानर्स साहब, वाटरलू के महान् युद्ध में, जहाँ सदा समर-विजयी नेपोलियन को भाग्य के फेर से हार खानी पड़ी थी, अँगरेज़ी सेना के सेनापति ड्यूक

आफ़ वेलिंगटन के सहायक थे। सन् १८३२ ई० में ये भारत में जंगीलाट होकर आये थे। यहाँ कुछ काल के लिए वास किया था। आगे पंजाब सेक्रेटेरियट आता है। कुछ आगे जाने पर एक रास्ता छोटा शिमला के बाज़ार में घुसता है। यह राह छोटा शिमला के



शिमला

बाज़ार में होती हुई कसमटी के बाज़ार में घुसती है और आगे पहाड़ियों पर निकल जाती है। कसमटी शिमला की म्युनीसिपालटी तथा जुब्बा और कोठी नामक छोटी रियासतों के सरहदों पर बसा हुआ है। हम अगर कसमटी से कुछ दूर निकलें तो हमको निर्जन पहाड़ियाँ और घाटियाँ दिखाई देंगी। इन पर कहीं-कहीं छोटे-छोटे गाँव बसे दिखलाई देते हैं। कहीं-कहीं कुछ समतल जगह भी है। वहाँ खेत बनाकर उनमें कुछ खेती की जाती है।

अब मैं तुमको शिमला की ओर लौटाता हूँ। हम पंजाब सेक्रेटेरियट से दाहिनी ओर का रास्ता लेते हैं। यहाँ हमको छोटा शिमला का डाक तथा तार-घर मिलता है। यहाँ कुछ चढ़ाई के बाद राह फिर समतल हो जाती है। यहाँ से बार्नस कोर्ट की ओर जाने का रास्ता

फटता है। आगे हमारी सड़क पहाड़ी को चीरती हुई निकलती है, जिसको पहले ख़ैबर का दर्रा कहते थे। यह देखिए पटियाला महाराज के मकान आ गये। बाईं ओर ओकोवर रह जाता है और अन्य मकान दाहिनी ओर।

इस सड़क पर जाते समय हमको काश्मीरी मुसलमान तथा पहाड़ी लोग अपने कन्धों पर लकड़ी के शहतीर या कोई अन्य भारी वज़न उठाये मिलेंगे। यही हिमालय के पुत्र हैं। उनके लम्बे बाल कन्धों तक लटकते रहते हैं, और गन्दे, जीर्ण ऊनी कपड़े तथा भेड़ की खालें उनके कन्धों से लटकती रहती हैं। उनके ज़र्द चेहरे, छोटी तथा चपटी नाक और ऊपर चढ़ी हुई आँखों से मालूम होता है कि वे पंजाब के निवासी नहीं हैं। ये हमेशा लकड़ी का हुक्का पीते जाते हैं और ख़ुशी तथा मुस्कुराहट सर्वदा उनके चेहरों पर नृत्य करती रहती है। बातें करने को तथा खाने को वे हमेशा तत्पर रहते हैं। पंजाब के पहाड़ी ये लोग मनुष्यों से बहुत हिल-मिल जाते हैं। उनमें कई गुण भी होते हैं। वे विश्वसनीय, ईमानदार, शुद्ध तथा थोड़े में ख़ुश और सन्तुष्ट होने वाले होते हैं। इनकी क़तार की क़तार अक्सर लकड़ी के बड़े-बड़े कई शहतीर पीछू पहाड़ से लिए आती दिखाई देती है। ये इन शहतीरों को एक मोटे रस्से के साथ, जो कपड़ों के चिथड़े का बनाया हुआ होता है, अपने कन्धों पर बाँध लेते हैं और यद्यपि ये बोझ के मारे झुके जाते हैं और सख़्त मिहनत के कारण उनके चौड़े कपाल पर पसीने की बूँदें दिखलाई पड़ती हैं, जिन्हें वे समय-समय पर पोंछते जाते हैं, तो भी वे अपने रास्ते पर बराबर चलते ही जाते हैं। जब वे ज़्यादा थक जाते हैं, तब कुछ देर के लिए पहाड़ के सहारे या किसी अन्य चीज़ के सहारे अपना बोझ टिका कर कुछ देर के लिए आराम करते हैं, पर ज्योंही थकावट मिटने लगी वे फिर रवाना हो जाते हैं। कई बार नवयुवतियाँ भी ऐसे बड़े-बड़े बोझ उठाये जाती दिखाई देती हैं। इस तरह इनके जीवन का एक बड़ा भाग व्यतीत हो जाता है। यद्यपि ये बोझ के मारे झुक जाते हैं तथापि ये सदा सुखी और अपने भाग्य से सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं।

कभी-कभी सारा कुटुम्ब का कुटुम्ब माँ, बाप, छोटे-बड़े भाई, बहनें सब यथाशक्ति एक-एक भारी बोझ लिए क़तार में मिलते हैं। ये हुक्का पीते जाते हैं और खुश होकर बातें भी करते रहते हैं। लकड़ी के शहतीर अक्सर सड़क की चौड़ाई के बराबर लम्बे होते हैं—कभी-कभी इससे भी बड़े होते हैं। इन बेचारे कुलियों को ये शहतीर पाछू से, जो शिमला से कोई दस मील की दूरी पर है, शिमला लाना पड़ता है। जब कभी कोई सवार अथवा रिक्शा आती दिखाई देती है तब ये उस लम्बे शहतीर को, अपने शरीर को मोड़कर, सड़क की सीध में ऐसी फुर्ती के साथ करते हैं कि देखते ही बन आता है। ज़रा इनकी दशा पर कुछ विचार कीजिए। इनके जीवन में न हर्ष है न विषाद है; ये अपनी जीविका के लिए ऐसी कड़ी मिहनत करते हैं और अपनी आमदनी में खाने-पीने के सिवा जो बच रहता है, वह तम्बाकू आदि व्यसनों में खर्च हो जाता है। उन्हें भविष्य का ख्याल नहीं सताता। जीवन में विपत्तियों के झोंके सहन कर करके ये आज उनसे नहीं डरते हैं; जब विपत्ति आती है उसको सहन करने के लिए झुक जाते हैं और ज्यों ही वह चली जाती है, उसका ख़याल भी उनके हृदय से निकल जाता है। मनुष्य का जीवन उसकी दशा पर कितना निर्भर रहता है, इसका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। निरन्तर दुःख तथा विपत्ति को सहन करने से मनुष्य की क्या दशा हो जाती है, तथा उसके क्या विचार हो जाते हैं, यह देखना हो तो इन मनुष्यों को देखिये, जो जीते भी मुर्दों के समान हैं।

[३]

अब मैं आगे बढ़ता हूँ। यह देखिये यहाँ बाईं ओर एक रास्ता नीचे जाता है जहाँ लार्ड रीडिंग हास्पिटल बना हुआ है। इस अस्पताल में स्त्रियों तथा शिशुओं की चिकित्सा होती है। इसी राह में से आगे एक राह सेन्ट्रल होटल को जाती है जो आगे जाकर कार्ट रोड में मिल जाती है। पर हम तो सीधे ही चले जा रहे हैं, यह रास्ता माल Mall कहलाता है। यह देखिये सामने एक पुराना बैंड-स्टेण्ड दिखाई

देता है, जहाँ आजकल शाम के समय आया तथा दाइयाँ बच्चों को लिए बैठी रहती हैं। आगे आपको बाएँ हाथ पर क्लार्कस होटल दिखाई देगा और कुछ आगे से दूकानों की कतारें शुरू हो जाती हैं। इस सड़क पर हमेशा चहल-पहल बनी रहती है। यहाँ अधिकतर योरोपियन स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। यह देखिए रिक्शाएँ भी आपके पास से जा रहा हैं और वह घोड़े पर बैठे अँगरेज स्त्री और पुरुष आते दिखाई देते हैं। यह चहल-पहल सूर्योदय से सूर्यास्त तक बनी ही रहती है। शाम को भी कोई नौ बजे के बाद ही शिमला की सड़कें सूनी मिलेंगी। यहाँ कोई इस रेस्टोराँ (Restaurant) में जा रहा है तो कोई उस होटल में से निकल रहा है। कोई इस दूकान में खरीदने जा रहा है, कोई उसमें। आश्चर्य यह होता है कि दिन भर यह भीड़ कहाँ से आती है, तथा कहाँ जाती है। यह भी विचार उठता है कि क्या इन विलासी पुरुषों को निरन्तर खरीदने के सिवा अन्य कोई उद्यम है या नहीं और इसके लिए इतना पैसा कहाँ से आता है।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इस सड़क पर अधिकांश युरोपियन स्त्री-पुरुष ही दिखाई देते हैं। आपको अगर इनके फ़ैशनों के विचित्र-विचित्र नमूने देखने हों तो क्षण भर के लिए ज़रा इस सड़क पर ठहर जाइए। आपको सामने सब दिखाई देगा। यहाँ भारतीयों पर भी पाश्चात्य सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव है। यहाँ आपको एक ही साथ दो भिन्न-भिन्न दृश्य दिखाई देंगे। एक ओर तो वे मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनकी सब ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं तथा सुख का भी बहुत सा सामान मौजूद है, फिर भी आत्म-दशा पर सन्तोष नहीं है। दूसरी ओर वे ग़रीब हैं जिनकी अन्य ज़रूरतों का पूर्ण होना तो अलग रहा एक बार भी भर पेट अन्न नहीं मिलता ; फिर भी वे ख़ुश और अपनी अवस्था से सन्तुष्ट हैं। कितना बड़ा अन्तर है! एक ओर वे पुरुष हैं, जो यद्यपि ऐश्वर्य और विलास में निमग्न हैं फिर भी उन्हें अधिक की चाह लगी है। किन्तु दूसरी ओर सर्वशक्तिमान् भगवान को इसी बात के लिए दुआ दी जाती है कि आज तो भूखों मरना न पड़ा। एक ओर तो वे आत्माएँ हैं जो विलास तथा सुख के उपभोग के

लिए शिमला आती हैं तथा दूसरे कड़ी मिहनत करने को। इन विला-सियों के मुख पर अगर कोई चिन्ता झलकती है तो अपने साथी की अच्छी दशा देखने पर अपनी दशा से असन्तोष होने के कारण। दूसरे ऐसे हैं कि यद्यपि निरन्तर परिश्रम के कारण कम उम्र ही में झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, कड़ी मिहनत के कारण कमर झुक गई है फिर भी चेहरे से हमेशा सन्तोष टपका पड़ता है। उनके चौड़े कपाल पर तथा चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं। उनकी एक-एक झुर्री कहती है कि हम उस वीर के पदक-स्वरूप हैं, जिसे पग-पग पर अपनी जीविका के लिए सामना करना पड़ता है। इन चलते हुए मिट्टी के ढेलों के हृदयों की कौन थाह पा सकता है ? यद्यपि ऊपरी दिखावे से ये मिट्टी के ढेले दिखाई देते हैं किन्तु इनके हृदय निरन्तर विपत्ति की आग में जल कर अब शुद्ध तपाये हुए सुवर्ण की भाँति स्वच्छ हैं। युद्ध में वीरता से लड़ने वालों से इन विपत्ति से लड़ने वाले वीरों का आसन बहुत ऊँचा है। पग-पग पर आपत्ति से लड़ने वाले तथा जीवन-संग्राम में सफलता के साथ उनका सामना करने वाले इन विजयी वीरों को देख कर हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट होता है तथा उनके प्रति आदर के साथ मस्तक झुक जाता है। एक ही स्थान में—ख़ासकर इस विलास-भूमि में यह विपरीतता देखने योग्य है। इसको देखकर दर्शक के हृदय में विचित्र विचार उठते हैं। मनुष्य को ऐश्वर्य तथा विलास की निस्सारता प्रकट हो जाती है और उसके प्रति घृणा के भाव हो जाते हैं। वह अनजाने ही उन बेचारे कुलियों से सहानुभूति करने लगता है।

[४]

अब हम और आगे चलें। देखिए, यहाँ बाईं ओर काटन मारिस की दूकान के पास से नीचे लोअर बाज़ार में जाने को रास्ता है। यहाँ म्युनिसिपालटी का बाज़ार है। चलिए पहले इसकी सैर कर आवें। यहाँ आपको छोटी-छोटी दूकानें दिखाई देती हैं जिनमें भारतीय, अफ़ग़ान और तिब्बती दूकानदार अपना सौदा लिये बैठे रहते हैं। यहाँ आपको प्रत्येक वस्तु मिल सकती है, भिन्नता यही है कि यहाँ

योरपियन दूकानों की सी स्वच्छता तथा सजावट नहीं पाई जाती। इससे आपको इस बाज़ार में कम क़ीमत पर वस्तुएँ मिल जाती हैं। यहाँ खासी भीड़ रहती है। यहाँ अँगरेज़ स्त्री-पुरुष भी कभी-कभी सौदा ख़रीदते दिखाई देते हैं। इस बाज़ार का वर्णन करते हुए एक अँगरेज़ लेखक ने लिखा है—इस बाज़ार में सर्वत्र शोर-गुल, खाना-पीना, लड़ाई-झगड़ा, क़ीमत पर झिक-झिक करना ही पाया जाता है। यहाँ की भीड़ में सब तरह के मनुष्य—प्रत्येक देश, धर्म, जाति और उम्र के स्त्री-पुरुष—पाये जाते हैं, ऐसी भीड़ किसी अन्य स्थान में पाना मुश्किल है। यह वह स्थान है जहाँ राजनीतिज्ञ तथा षड्यन्त्रकारी इकट्ठे होते हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह बाज़ार एक ऐसा स्थान है जहाँ उनको अपने काम का तथा विचार के लिए बहुत सा मसाला मिल सकता है।

अब वापस लौट कर "माल" पर फिर चलें। बाईं ओर दूकानों की कतार की कतार चली गई है। आगे एक बड़ा मकान दिखलाई पड़ता है। यह पहले टाउन हाल था। आज-कल यह गेइटी थियेटर (Gaiety Theatre) है। जो ग्रीष्म-काल में "शिमला ऐमेचूर ड्रेमेटिक क्लब" की नाट्य-शाला हो जाती है। इसके पास ही शिमला म्युनिसिपालटी का दफ़्तर है। बाईं ओर सामने "फायर-स्टेशन" है। गेइटी थियेटर के आगे का बड़ा मकान स्टेशन-लायब्रेरी है। इसकी स्थापना सन् १८४४ ई० में हुई थी। यह भारत का एक अच्छा पुस्तकालय समझा जाता है।

अब आगे चलिए। यहाँ दाहिनी ओर शिमला का बड़ा डाकघर है। आगे आपको दोनों ओर मकान मिलते हैं; कोई किसी संस्था-विशेष का भवन है और कोई किसी महकमे का दफ़्तर है। कुछ दूरी पर हमें पेलिटी का ग्रेंड होटल नज़र आता है। इस मकान का पूर्व इतिहास बहुत लम्बा है, यह कोई संस्थाओं का केन्द्र भवन तथा कोई विख्यात पुरुषों का निवास-स्थान रह चुका है। यहाँ से आगे एक सड़क अननडेल नामक एक सुन्दर घाटी को जाती है जहाँ एक क्लब, घुड़दौड़ तथा पोलो आदि के मैदान बने हुए हैं।

कुछ आगे चलने पर हमें कई रास्ते मिलेंगे। थोड़ी दूर पर भारत की व्यवस्थापिका-परिषद् का भवन दिखाई देता है। कुछ आगे चलने पर नीचे खडहठी के घुड़दौड़ के मैदान का एक अच्छा दृश्य दिखाई देता और ऊपर हिमाच्छादित चोटियों का दृश्य बहुत ही रमणीय दृष्टिगोचर होता है। आगे हमें सेसिल होटल मिलता है। यह एक विशाल भवन है। इसमें प्रायः बड़े-बड़े श्रीमान तथा अँगरेज़ ही ठहरते हैं। यहाँ से रास्ता सीधा वाइसराय के भवन "वाइसरेगल लाज" की ओर जाता है। यह भवन आबज़रवेटरी हिल (Observatory Hill) पर बनाया गया है। यह महल बड़ी सुन्दरता से सजाया गया है। इसके चारों ओर दूब लगाई गई है और यहाँ का बाग भी अच्छा है। इसके आस-पास ही एक गिरजा तथा तीन मकान वाइसराय के ए० डी० सी० (A. D. C.) आदि के रहने के लिए बनाये गये हैं।

यहाँ से हम समरहिल की ओर प्रस्थान करते हैं। यह सड़क बड़ी सघन वृक्षों से ढकी हुई है। यहाँ से होते हुए समरहिल के रेल के स्टेशन पर जा निकलते हैं। इस स्थान की बस्ती कुछ समय से बहुत बढ़ गई है और यहाँ एक छोटे शहर सी बस्ती बस गई है। इनके सुभीते के लिए शिमला से समरहिल तक एक स्पेशल ट्रेन जाती है।

यहाँ से बाइलूगंज (Boileavganj) को दो सड़कें जाती हैं। दोनों सड़कें सुरम्य स्थान में होकर गुज़रती हैं। यहाँ से एक राह जुतोग नामक पहाड़ी को जाती है। हम यहाँ से वापस लौटते हैं और वाइस-रेगल लाज के पास होते हुए और पीटरहॉफ (Peterhoff) नामक मकान के नीचे होकर आगे चले जाते हैं। यह मकान कोई २६ वर्ष तक वाइसराय का निवासस्थान रह चुका है, और आजकल वाइसराय का वह मेम्बर जिसके हाथ में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ज़मीन का विभाग है, यहाँ रहता है। यहाँ से आगे हम भारत सरकार के फॉरिन डिपार्टमेन्ट के पास होकर चौरा मैदान पर निकल आते हैं। अब हम जिस राह से आये थे उसी राह से चले जाते हैं, किन्तु आगे जहाँ दो सड़कें फूटती हैं दाहिने हाथ की ओर मुड़ जाते हैं। तब हम इम्पीरियल बैंक के दफ़्तर के पास से निकलते हैं, और तारघर के

विशाल भवन के पास होकर हम फिर माल पर आ जाते हैं। यहाँ से बाईं ओर रास्ता लेकर हम पुनः रिज पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से हम रवाना हुए थे।

आपको मैंने सारी शिमला की हवा खिला दी।

परन्तु हम लोगों का वह यक्ष-लोक कहाँ है? हिमालय तो अभी तक ज्यों का त्यों खड़ा है।

शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः।

पर वह लोक कहाँ है जहाँ न वार्द्धक्य है, न दुःख है, न मृत्यु है? मेघ तो प्रतिवर्ष हिमालय के पास आता है परन्तु क्या वह अब भी कोई सन्देश लाता है? दुःख और दारिद्र्य की ज्वाला से पीड़ित, पराधीनता और अपमान से क्षुब्ध भारत क्या हिमालय को कोई सन्देश नहीं भेजता?

—रघुवीरसिंह
डी॰ लिट्॰।

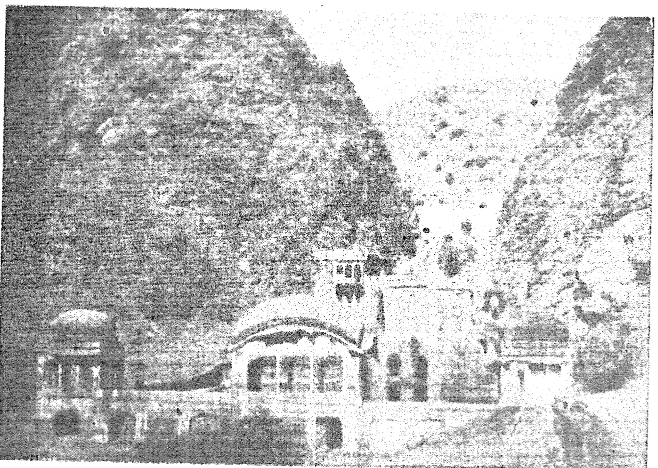
जयपुर का गलता तीर्थ

संसार ने तीर्थ-यात्रा को सब से ऊँचा पुण्य का स्थान दिया और वास्तव में यह है भी ठीक। हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने तथा हमारे बुजुर्गों ने इसको बड़ा भारी महत्त्व दिया है। यदि हम गूढ़ विचार करके देखें तो हमें मालूम होगा कि तीर्थ-यात्रा से कई लाभ होते हैं। इससे पुण्यधर्म तो होता ही है, किन्तु साथ-ही-साथ मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी भारी प्रभाव पड़ता है। यद्यपि तीर्थ-यात्रा का आजकल दुरुपयोग होने लग गया है, किन्तु तो भी इसका स्थान संसार की दृष्टि में बहुत ऊँचा है। तीर्थ-यात्रा से मनुष्य नये-नये स्थानों का निरीक्षण करता है और उनके विषय में अनुभव प्राप्त करता है, वह प्रकृति के विचित्र दृश्यों को देखता है। उसको विचित्र प्राकृतिक सौंदर्यशाली स्थानों को देखकर ईश्वर की सत्ता का और सांसारिक

मिथ्या भोगविलासों का स्वाभाविक ज्ञान होने लगता है, जिससे वह अपने जीवन को ईश्वर-भक्ति, परोपकार अथवा सत्कर्म में लगाकर निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करने लगता है। संसार के बड़े-बड़े विद्वानों ने, विज्ञानाचार्यों ने तथा आदि कवियों ने प्रकृति की सुन्दरता और रूप को ही तो परब्रह्म परमात्मा की सत्ता का वास्तविक स्वरूप माना है। हरद्वार, ऋषिकेश, बद्रिकाश्रम, केदारनाथ, जगन्नाथपुरी, प्रयाग, काशी आदि सर्वश्रेष्ठ स्थानों का नाम किससे छिपा हुआ है। प्राकृतिक सौंदर्य के विचित्र दृश्यों की प्रचुरता के कारण ही तो उपर्युक्त स्थान पवित्र माने गये और हिन्दुओं ने उन्हें तीर्थों का स्थान दे दिया।

प्रत्येक जाति अथवा देश में तीर्थ-यात्रा की प्रथा प्रचलित है और बहुत उपयोगी मानी गई है। हमारे भारतवर्ष में और खास करके हिन्दू-जाति में तो इसका सब से ज़्यादा रिवाज है। प्रत्येक हिन्दू बिना तीर्थ-यात्रा किये अपने जीवन को सफल नहीं मानता। जब मनुष्य वृद्धावस्था के समीप पहुँच जाता है तब वह तीर्थ-यात्रा की ही अधिक इच्छा करता है। भारत में 'चारों धाम' की तीर्थ-यात्रा प्रसिद्ध है, जिसमें द्वारका, सेतुबन्ध रामेश्वर, बद्रिकाश्रम और जगन्नाथपुरी सर्व-प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त रास्ते में और भी ऐसे-ऐसे रमणीक और मनोहर तीर्थ-स्थान हैं, जिनके सौंदर्य के विषय में वर्णन करना लेखन-शक्ति की सीमा से बाहर है। उन्हीं तीर्थ-स्थानों में गलता भी एक महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थान है।

गलता हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यह जयपुर नगर की पूर्व दिशा में स्थित है। यह जौहरी बाज़ार की चौपड़ से क़रीब दो मील दूर है और जयपुर रेलवे स्टेशन से क़रीब पाँच मील पड़ता है। जयपुर नगर में मुख्य-मुख्य सात दरवाज़े हैं, जिनमें पूर्व दिशा का द्वार 'सूरजपोल' अथवा गलता दरवाज़ा के नाम से प्रसिद्ध है। इस द्वार से बाहर निकलने के बाद लगभग एक मील आगे चलने पर पर्वत की बड़ी-बड़ी श्रेणियाँ मिलती हैं, ये गलते की पहाड़ियाँ कहलाती हैं। इन्हीं पर्वत-श्रेणियों के पास एक और दरवाज़ा बना हुआ है। जयपुर शहर से इस दरवाज़े तक पक्की सड़क बनी हुई है, जिससे



जयपुर का गलता तीर्थ

मोटर-ताँगे आदि सवारियाँ बड़ी ही सुविधा से चली आती हैं। यहीं से पर्वतों के बीच एक पक्की घाटी आरम्भ होती है, जो सर्प की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती हुई सीधी गलते तक चली गई है। यह घाटी बहुत चौड़ी और पक्की बनी हुई है, जिस पर स्त्रियाँ और छोटे-छोटे बच्चे भी बड़ी ही सुविधा से चले जाते हैं। पर्वत पर जितना चढ़ाव है, क़रीब-क़रीब उतना ही उतार है; चढ़ाव से जहाँ उतार आरम्भ होता है, वहाँ पर साधुओं का एक बड़ा मठ बना हुआ है, जिसमें एक नृसिंहजी का मंदिर है और यहाँ पर एक जल का टाँका बना हुआ है। यहाँ पर परदेशी साधु आकर बहुत ठहरा करते हैं और यहाँ पर गलते आने-जाने वाले तीर्थ-यात्री थक जाने पर विश्राम करते हैं। यहाँ से जयपुर नगर का दृश्य बड़ा ही सुन्दर दिखलाई पड़ता है।

गलता चारों ओर से ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों से घिरा हुआ प्रकृति की अनुपम शोभा को बढ़ाता है। इसमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आठ कुण्ड हैं, जिनके नाम ये हैं—यज्ञकुंड, कदमकुंड, चोकोरकुंड, मर्दानाकुंड, जनानाकुंड, बावराकुंड, केल का कुंड और लालकुंड। इन सब में मर्दानाकुंड प्रधान है। इसमें एक झरना गिरता है, जो कभी बन्द नहीं होता। इस झरने के उद्गम पर एक संगमरमर का गोमुख लगा हुआ है, जिसमें होकर पानी की धार कुंड में गिरती है। यह जलधार गंगाधार मानी जाती है। यह धारा सैकड़ों वर्षों से ज्यों की त्यों गिरती चली आती है, कभी बन्द नहीं होती।

गलता तीर्थ के विषय में ऐसा कहा जाता है कि इसका मूल नाम गालवाश्रम था। यहाँ पर गालव ऋषि तपस्या किया करते थे, जिसके बहुत-से प्रमाण अब भी वहाँ पाये जाते हैं। एक बार जयपुर के कोई प्राचीन महाराजा आखेट करने के लिए इस आश्रम की ओर आ निकले थे। इस आश्रम के समीप साधु-महात्मा सिंह का रूप धरकर पहाड़ों पर घूमा करते थे। राजा ने एक सिंह की तरफ़ गोली चलाई। वह गोली सिंह के पिछले पाँव में लगी और एक ख़ून की धारा बह निकली। उसी समय यह सिंह अपना रूप छोड़कर एक महात्मा के रूप में प्रकट हुआ और राजा से कहा, "राजन्! आपने इस आश्रम

की ओर शिकार खेलने की कैसे हिम्मत की ? इसके फलस्वरूप आपके कुष्ठरोग हो।" यह शाप देकर वह महात्मा ग़ायब हो गये। कहते हैं कि यही गालव ऋषि थे। राजा अपने महल को लौट गया, किन्तु उसी दिन से वह कुष्ठरोग से ग्रसित अधिकाधिक पीड़ित होने लगा। कई इलाज कराने पर भी उसे रोग से छुटकारा न मिला। दुखित होकर कुछ समय बाद वही राजा अपने कुछ साथियों के साथ उसी आश्रम की ओर, उन्हीं महात्मा की तलाश में, चला। बहुत देर तक तलाश करने के बाद महात्मा एक पर्वत की गुफा में ध्यानमग्न समाधि लगाये हुए मिले। राजा ने प्रार्थना की, "हे प्रभो ! मैं अनजान में अज्ञानवश इधर आखेट करने चला आया था। मुझे क्षमा कीजिए और कृपया इस रोग से छुटकारा पाने का कोई उपाय बतलाइए।" महात्मा लोग दयार्द्र हृदय तो होते ही हैं। उन्होंने राजा से कहा, "राजन् ! इस स्थान पर एक पक्का आश्रम बनवा दीजिए, और इसमें एक विशाल कुंड बनवा दीजिए। मैं उस कुंड में गङ्गा की एक जल-धारा ला दूँगा। वह धारा जब तक संसार रहेगा, तब तक कभी बन्द न होगी। उसी गङ्गा में स्नान करने से तेरा कुष्ठरोग जाता रहेगा और जो कोई उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करेगा या जल का आचमन करेगा, वह किये हुए सब पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होगा।" राजा ने ऐसा ही किया। उसका कुष्ठरोग जाता रहा। तभी से यह गालवाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दिनोदिन इसकी उन्नति होती गई। गालवाश्रम का नाम बिगड़ते-बिगड़ते गलता बन गया। इसी तरह यह तीर्थ माना जाने लगा। बड़े-बड़े डाक्टरों और वैद्यों ने इसके जल की परीक्षा की है और बतलाया है कि गङ्गा भागीरथी के जल से इसका जल किसी तरह भी कम गुणकारी नहीं है। इस जल में लगातार स्नान करने से दाद, खाज आदि समूल नष्ट हो जाते हैं और कई दिन तक इसका जल पीने से अनपच का रोग जड़ से जाता रहता है।

गलते का प्राकृतिक दृश्य हृदय को मुग्ध कर देता है। चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ दीवारों के सदृश खड़ी हुई हैं। पर्वत पर से

गिरता हुआ झरना, विशाल कुंडों में भरा हुआ स्वच्छ शीतल जल, संगमरमर के बने हुए गोमुख, पक्के बने हुए घाट, ऊँची-ऊँची छतरियाँ, विशाल मन्दिर आदि गलते के अनुपम दृश्य को बढ़ाते हैं।

एक ओर प्रवाहित जलप्रपात का कलकल शब्द सुनाई पड़ता है तो दूसरी ओर मंजुल जलपक्षियों की कलरव ध्वनि सुनाई पड़ रही है। एक ओर जल में शब्द करते हुए दादुरों की ध्वनि सुनाई पड़ती है तो दूसरी ओर रक्त मुखवाले और काले मुखवाले वानरों की किलकार सुनाई पड़ रही है। एक ओर गङ्गा में स्नान करते यात्रियों के 'गङ्गेहर' 'नर्बदेहर' आदि शब्द सुनाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर ब्राह्मणों के मुख से निकले हुए वेदमन्त्र कर्णकुहरों में पहुँचते हैं। जगह-जगह साधु-महात्मा धूनी लगाये हुए ध्यान कर रहे हैं, जिनको चारों ओर से यात्रियों ने घेर रक्खा है। कहीं पर जंगली तोतों का समूह वृक्ष-शाखाओं पर बैठा हुआ चहचहा रहा है, कहीं पर मयूरगण पंख फैलाकर नृत्य कर रहे हैं। कहीं पर पुष्प-पौदों के चारों ओर अलिगण मधु से आकर्षित होकर गुंजार कर रहे हैं; कहीं पर मदमत्त कोकिल वृक्षों में घुसी हुई कुहुक रही है। एक ओर सुगन्ध को धारण किये हुए शीतल समीर बह रहा है।

गलते की किसी पहाड़ी पर चढ़कर यदि हम पश्चिम दिशा की ओर दृष्टि डालें तो जयपुर नगर का मनोहर दृश्य दिखाई पड़ता है और यदि हम पूर्व दिशा की ओर देखें तो कोसों तक हमको पहाड़ी सिलसिले और उनके मध्य में छोटे-छोटे हरे-भरे मैदान दिखलाई पड़ते हैं, जिनकी शोभा देखते ही बन आती है। इसी गलते में आधुनिक सिनेमा-संसार की पृथक्-पृथक् फ़िल्म-कम्पनियाँ समय-समय पर यहाँ के रमणीक दृश्य लेने को आती रहती हैं।

गलते के प्राकृतिक दृश्य को देखकर मनुष्य को ऐसा अनुभव होने लगता है, मानो प्रकृति-देवी ने इसके बनाने में अपना पूर्ण चातुर्य दिखला दिया है। वास्तव में ऐसे स्थानों को देखकर ही तो ऋषि-महर्षियों ने ईश्वर की सत्ता का अनुभव किया था।

गलते में प्रवेश करते ही सबसे पहले एक यज्ञकुण्ड आता है। कहते हैं, इसी के जल से गालव ऋषि अन्य ऋषियों के साथ यज्ञ, हवन आदि किया करते थे। यज्ञकुण्ड की दाहनी ओर कदमकुण्ड है। यज्ञकुण्ड से आगे चलने पर एक चोकोरकुण्ड दिखाई पड़ता है, जिसको पातालकुण्ड भी कहते हैं। इसके बाद नीचे उतरते ही मर्दानाकुण्ड आता है, जिसमें हर समय मनुष्य स्नान करते हुए और तैरते हुए नज़र आते हैं। यह बहुत लम्बा-चौड़ा और गहरा है। इसके दक्षिणी किनारे पर एक उत्तम शिवालय बना हुआ है। यह कुण्ड पहाड़ों के बीच में ही बना हुआ है। एक ओर पक्की दीवार और घाट बने हुए हैं। इसी कुण्ड में वह अचल झरना गिरता है जो कभी बन्द नहीं होता। यह झरना पहाड़ी की एक गुफा में से निकलता है। इस गुफा की लम्बाई का तथा यह जल कहाँ से आता है, इस बात का कोई आज तक पता न लगा सका। ऐसा सुना गया है कि कई तीर्थों का और गंगा आदि पवित्र नदियों का जल सब मिलकर इसमें आता है। भगवान् जाने यह कहाँ तक सत्य है। कुण्ड के बीच में जगह-जगह लोहे की ज़ंजीरें दीवारों से लटकाई गई हैं, जिससे कोई यात्री डूबने न पावे। हर समय इस कुण्ड में लाल मुख के बन्दर पिछले पाँवों से दीवारों पर लटककर उल्टे होकर जल पीते हुए दिखाई देते हैं, जिन्हें देखकर लोग बड़ा आश्चर्य करते हैं। यह कुण्ड सदा भरा रहता है, कभी ख़ाली नहीं होता। कुण्ड के ऊपर दीवार में एक साइनबोर्ड लगा हुआ है, जिसमें लिखा हुआ है "हिन्दुओं का तीर्थ। यहाँ हिन्दुओं के सिवा दीगर क़ौम को नहाने की मुमानियत है।" इससे नीचे उतरने पर आगे हमको ज़नानाकुण्ड मिलता है। यह बहुत विशाल और गहरा है। इसके बीच में एक संगमरमर की बनी हुई कमल पुष्प के आकार की चौकी है, जो जल में बड़ी मनोहर दिखाई देती है। दूर से देखने पर ऐसा मालूम पड़ता है, मानो सरोवर में श्वेत कमल खिल रहा हो। इसके पेंदे तक पेड़ियाँ बनी हुई हैं और इससे घाट से क़रीब दो गज़ दूर लोहे के तार लगे हुए हैं, जिससे कोई डूबने न पावे। इसमें केवल स्त्रियाँ ही स्नान

कर सकती हैं। घाट के पास तीन बड़ी छतरियाँ और विशाल चबूतरे बने हुए हैं, जहाँ स्त्रियाँ कपड़े बदल सकती हैं। इस कुण्ड में जल ऊपर वाले मर्दाने कुण्ड में से ही एक गोमुख में होकर आता है।

इससे आगे जाने पर ऊँचे-ऊँचे विशाल मन्दिर दिखाई पड़ते हैं, जिनकी प्राचीन कारीगरी देखकर मनुष्य को बड़ा आश्चर्य होता है। मन्दिरों के नीचे थोड़ी-सी बनियों की दुकानें हैं, जिनमें खाने-पीने की मामूली चीजें हर समय मिल जाती हैं। इससे आगे चलने पर एक केले का बाग़ आता है, जिसमें ऊँचे हरे वृक्ष, गुलाब, कंडीर, सदाबहार, बनचमेली आदि पुष्पों के पौदे उगे हुए हैं। उनकी शोभा हृदय को मुग्ध कर देती है। इस बाग़ के बीच में एक कुण्ड बना हुआ है, जो केले का कुण्ड कहलाता है। इस बाग़ में बहुत-से रसोई के स्थान बने हुए हैं, जहाँ मेलों के अवसर पर लोग कच्ची-पक्की रसोइयाँ बनाते हैं। इस बाग़ के उत्तर-पूर्व में एक बावड़ी बनी हुई है।

यहाँ से बाईं ओर एक ऊँचे पर्वत पर रघुनाथगढ़ नामक क़िला बना हुआ है, जो बहुत भयंकर स्थानों में से एक है। यहाँ दिन में भी शेरों का डर रहता है। यहाँ पर एक जल का टाँका भी है।

ज़नाने कुण्ड के दक्षिण की ओर एक छोटी पहाड़ी पर महात्मा "पियाहारीजी" की गुफा है। गुफा के द्वार पर महात्माजी का एक चित्र काँच में जड़ा हुआ है। यह गुफा कोसों दूर चली गई है। इसका किसी ने पता न पाया। कहते हैं, इस गुफा का पता लगाने के लिए एक बार कुछ साधु इसमें घुस गये थे। उनका बाद में कहीं पता भी न लगा। तब से इस गुफा का द्वार राज्य की ओर से बन्द कर दिया गया है। इन महात्माजी के चित्र के सामने राज्य की ओर से अखंड धूनी लगी रहती है, जो कभी नहीं बुझती। ये पियाहारीजी एक बड़े तपस्वी और पहुँचे हुए महात्मा हुए हैं। कहते हैं, इनकी तपस्या के बल से सिंह और गाय एक घाट पानी पीते थे और इनकी आँख का इशारा पाते ही बड़े-बड़े भयंकर और हिंसक जन्तु भी इनके पाँवों पर लोटने लगते थे। ये परमयोगी महात्मा नाभाजी के शिष्य थे। जयपुर

के महाराजा सवाई ईश्वरी सिंह जी इनके पूर्ण भक्त थे और उन्होंने इनसे कई योग-सिद्धि की बातें सीखी थीं। महात्मा पियाहारीजी बहुधा सिंहवेश में घूमते सुने गये हैं।

गलता तपस्वी महात्माओं के लिए हमेशा से प्रसिद्ध रहा है। कहा जाता है, कई बार यहाँ पर पर्वतों की गुप्त गुफाओं में तपस्वी साधु-महात्मा तपस्या करते हुए पाये गये हैं। सन् १९२७ ई० में जब गलते के मर्दाने कुण्ड की छटाई और खुदाई हुई थी तब उस समय कुण्ड के अन्दर एक तिबारा निकला था, जिसमें सात साधु तपस्या करते हुए दिखाई दिये थे, किन्तु क्षण भर में वे ग़ायब हो गये थे।

केले के बाग़ के आगे लालकुण्ड आता है। लालकुण्ड के अन्दर एक कुआँ भी बतलाया जाता है। इसके पास एक बड़ा दरवाज़ा है। यहीं तक गलते की सीमा है। लालकुण्ड के आगे पर्वतों के बीच में होता हुआ बहुत दूर तक रास्ता चला गया है, जो पूर्व दिशा के गाँवों में जाता है। यहीं से दाहिनी ओर एक सकरी पगडंडी सीधी पुराने घाट के प्रसिद्ध हनुमान्‌जी के मन्दिर तक चली गई है। यह पगडंडी बड़ी ख़तरनाक है। इसमें सिंहों के शिकार के लिए ओदियाँ बनी हुई हैं, जगह-जगह सिंहों को गुफ़ाएँ नज़र आती हैं और सिंहों की गरज बहुधा सुनाई पड़ती है। मैंने इस रास्ते से कई बार अपने मित्रों के साथ यात्रा की है।

प्रतिदिन गलते में कोई-न-कोई यात्री आता रहता है। यात्री लोग यहाँ के बन्दरों को चने, फल-फूल आदि खिलाते हैं। यहाँ के बन्दर ज़्यादा चालाक और दुष्ट नहीं हैं। जो यात्री जयपुर जाकर गलता नहीं देखता, उसकी जयपुर-यात्रा अधूरी समझी जाती है। यहाँ पर बंगाली और गुजराती तीर्थ-यात्री बहुतायत से आते हैं।

गलते के पहाड़ों में हिंसक पशु जैसे शेर, चीते, सर्प, बिच्छू आदि भी निवास करते हैं, किंतु गलते के कुण्डों में कोई जल-जन्तु ग्राह, मच्छी आदि बिलकुल नहीं हैं। जल काँच की तरह स्वच्छ है और हर मौसम में बड़ा शीतल रहता है। हर तीसरे वर्ष राज्य की ओर से गलते के कुण्डों की छटाई भी होती रहती है।

रात के समय गलते के रास्ते में सिंह का डर रहता है, इसलिए कोई भी मनुष्य नहीं आता-जाता और इसी कारण गलता दरवाज़ा रात के नौ बजे ही बन्द हो जाता है।

यहाँ पर सूर्यसप्तमी, रामनवमी, पर्वस्नान, निर्जला एकादशी, जलझूलनी एकादशी के दिन बड़ा भारी मेला लगता है। हज़ारों यात्री आते हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के दिन भी यहाँ बड़ी भीड़ रहती है। चातुर्मास में यहाँ की बहार देखने ही योग्य है। जगह-जगह जलप्रपात झरने लगते हैं और प्रत्येक जगह जल-ही-जल बहने लगता है। पहाड़ों पर और वनस्थलियों में सजीवता आ जाती है। उस समय की शोभा देख कर मनुष्य को स्वर्ग-सुख का-सा आनन्द होता है। श्रावण-शुक्ला प्रतिपदा से पूर्णिमा तक पन्द्रह दिन तक बराबर यहाँ बड़ा मेला भरता है। सैकड़ों नर-नारी प्रतिदिन यहाँ आते हैं और गोठ या दावतें किया करते हैं। यहाँ का बनसोमवारों का मेला देखने ही योग्य है। मेलों के दिन राज्य की ओर से पुलिस का और प्रजा की ओर से स्वयंसेवक-दल का पूरा प्रबन्ध होता है। गलते की पहाड़ी के नीचे मोहनबाड़ी आदि बगीचियाँ हैं, जिनमें इन दिनों बड़ी भीड़ रहती है।

जयपुर नगर के बिलकुल सामने, पूर्व दिशा की ओर, गलते की प्रधान पहाड़ी पर सूर्यभगवान् का एक विशाल मन्दिर है। यहाँ पर जल का एक टाँका भी है। यहाँ से जयपुर नगर का दृश्य अत्यन्त ही मनोहर दिखाई पड़ता है। माघ मास में 'सूर्यसप्तमी' के दिन यहीं से सूर्य का रथ निकलता है। उस रोज़ बड़ा मेला लगता है। सूर्य की मूर्ति एक विशाल चाँदी के रथ में विराजमान की जाती है और राज्य का कुल लवाज़मा और राज्य के बड़े-बड़े सरदार और मेम्बर इस सवारी के साथ रहते हैं। गलते के सूर्य मन्दिर से लगाकर शहर में त्रिपोलिया द्वार तक बड़ा भारी मेला होता है। पुनः रथ नगर में घूम कर वापस अपने मन्दिर में चला जाता है। यह मेला प्रातःकाल होता है। सूर्य-मन्दिर की स्थिति ऐसी उत्तम है कि जयपुर नगर के निवासी जब प्रभात के समय उठ कर सूर्योदय की ओर दृष्टि डालते

हैं तो वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूर्य ठीक उसी मन्दिर में से निकलता है।

गलते में एक तो यह बात अच्छी है कि यहाँ पंडों आदि का उपद्रव नहीं है, जैसा कि और तीर्थों में हुआ करता है। इसके अलावा यहाँ पर चोर, गुण्डे, जेबकट, लुच्चे, जुआरी आदि दुष्टों का अत्याचार नहीं है, जैसा प्रायः बड़े-बड़े तीर्थ-स्थानों में हुआ करता है। किंतु कभी-कभी यहाँ पर गुण्डे और बदमाश पहुँच जाते हैं, जो भोले और अकेले नर-नारियों को सताने लगते हैं। इसके लिए हम प्रजा की ओर से जयपुर-सरकार से प्रार्थना करते हैं और उसका ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए अनुरोध करते हैं कि सरकार की ओर से गलते तीर्थ पर सदा के लिए एक पुलिस-चौकी नियत की जाय, जिससे सदा यात्रियों की बदमाशों से रक्षा हो सके।

यहाँ पाँच-सात घरों की बस्ती भी है, जिनमें अधिकतर जाट, गुर्जर और मीणे हैं, जो राज्य की ओर से मन्दिरों आदि की नौकरी करते हैं और अपने मवेशी चराते हैं।

वास्तव में भारतवर्ष के तीर्थों में गलता तीर्थ का स्थान बहुत ऊँचा है। जिसने जयपुर जाकर गलता न देखा, उसका जयपुर जाना व्यर्थ है।

—हरिशंकर शर्मा, श्रीमाली

उदयपुर-यात्रा

नवम्बर की रात थी जब मैं 'पंजाब-एक्सप्रेस' से पश्चिम की ओर जा रहा था। मेरे दिमाग़ में तरह तरह के ख़याल आ रहे थे कि वह देश कैसा होगा, लोग कैसे होंगे। मैंने सुन रक्खा था कि वह ऐसी जगह है, जहाँ ऊँचे पहाड़ हैं, जिन्होंने बहादुर राजपूतों को आश्रय दिया था। राजपूतों को इस वीर-भूमि के बारे में मैंने जो कथायें पढ़ी थीं उनसे नाना काल्पनिक चित्रों का मानस-पटल में उदित होना स्वाभाविक था।

जाड़ा शुरू ही हुआ था, तो भी गाड़ी जितना ही पश्चिम की ओर जा रही थी, सर्दी भी उतनी ही बढ़ती मालूम पड़ती थी। मैं इन्टर क्लास का यात्री था। गाड़ी में शोर-गुल इतना था कि नींद नहीं पड़ी।

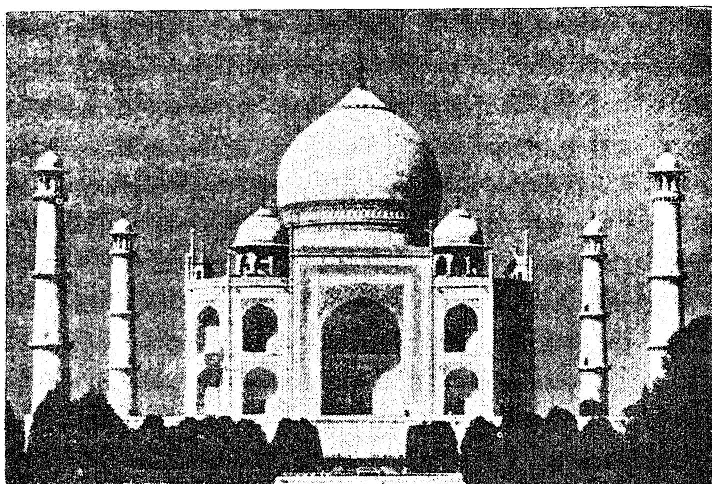
रात में एक बजे का समय था, जब गाड़ी मोग़लसराय में पहुँची। हम लोगों को दूसरी गाड़ी बदलनी थी, इसलिए वहीं उतर पड़े। देहली-मेल के आने में ढाई घण्टे बाक़ी थे। मैंने अपने मित्र को जो फ़र्स्ट क्लास के पैसेञ्जर थे, वेटिंग-रूम में विश्राम करने के लिए कहा। परन्तु वे राज़ी न हुए और हमने प्लेटफ़ार्म पर ही अपना बिस्तरा लगाया। मुझे अब भी नींद नहीं थी। राजस्थान के ख़याल उसी तरह मेरे दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे।

कोई परिचित आदमी तो वहाँ था नहीं, जिससे मैं उदयपुर के बारे में बातें करता और अपने कल्पित चित्रों से उसकी तुलना करता। कुछ देर बाद मैंने भी वहीं व्हीलर के स्टाल पर अपना बिस्तरा लगा दिया। उसी समय एक रोचक घटना घटी, जो अब भी मुझे हँसा देती है। गाड़ी आने में देर थी और बहुत-से मुसाफ़िर इधर-उधर टहल रहे थे। इतने में एक सज्जन ने मुझे व्हीलर का एजेन्ट समझ लिया। उन्होंने मेरी ओर छः आने पैसे बढ़ाकर कहा—'सिनेमा-संसार' की एक प्रति दे दीजिए। मैंने उनसे पैसा न लेकर कहा कि मैं भी आपकी ही तरह एक मुसाफ़िर हूँ, व्हीलर का एजेन्ट नहीं हूँ। वे सज्जन शर्मिन्दा होकर मुझसे माफ़ी माँग चले गये। सुबह होने पर जब मैंने अपने मित्र से यह कथा सुनाई तब वे भी बहुत हँसे और उदयपुर तक मुझे व्हीलर का एजेन्ट कहकर ही सम्बोधित करते रहे।

दूसरे दिन ९ बजे हमारी गाड़ी आगरा पहुँची। बी० बी० सी० आई० रेलवे की गाड़ी में हम लोगों को यहाँ सवार होना था। ट्रेन में ९ घण्टे की देर थी, किन्तु उसके लिए क्या चिन्ता थी, जब हम आगरा में मौजूद थे। जलपान कर हम लोग ताजमहल की ओर चल

पड़े। रास्ते में आगरे के प्रसिद्ध क़िले को देखकर मुझे बहुत .खुशी हुई। यह हिन्दू-मुस्लिम कला का एक सुन्दर नमूना है।

भीतर कितनी ही संगमरमर की इमारतें हैं। एक कोठरी ऐसी है जिसको बन्द कर देने पर भी उसके अधपारदर्शक पत्थरों-द्वारा भीतर रोशनी आती रहती है। हमारे पथप्रदर्शक को तो मुग़ल-साम्राज्य का सारा इतिहास मुखस्थ-सा था। उनको क़िला-सम्बन्धी अनेक क़िस्से याद थे और उन क़िस्सों को वे इस तरह कहते थे, मानो उन्होंने वे सारी घटनायें अपनी आँखों देखी हों। ऐतिहासिक घटनाओं के बीच में वे मज़ाकिया ढंग से मुग़ल बादशाहों की रासलीलाओं का भी वर्णन करते जाते थे।



ताजमहल

क़िला देखने के बाद हम लोग सीधे ताजमहल की ओर बढ़े। दुनिया की इस प्रसिद्ध इमारत को अभी तक मैंने तसवीरों में ही देखा था। उसे साक्षात् देखकर मेरी .खुशी का कोई ठिकाना न रहा। मैं

बहुत देर तक टकटकी लगाये उसे देखता रहा। मैं सोच रहा था कि घर लौटने पर ताज के बारे में पूछने पर मेरा उत्तर क्या होगा। ताज की तारीफ़ आँखें ही कर सकती हैं—ज़बान नहीं। शाम को हम लोग गाड़ी पर सवार हो गये। रात होने के कारण रास्ते की चीज़ें नहीं देख सकते थे। हाँ, भरतपुर का दही-बड़ा अभी तक याद है! सुबह सात बजे आँखें खुलीं। आसमान में लाली छा रही थी। इस लाली में वृक्ष-रहित पर्वत भी लाल मालूम पड़ते थे। चारों तरफ़ जिस ओर नज़र दौड़ती, सूखी ज़मीन के सिवा और कुछ नहीं देख पड़ता था। हाँ, कहीं कहीं गेहूँ की खेती नज़र आती थी। धान राजपूताने में होता ही नहीं। उदयपुर में सुनने में आया कि वहाँ धान की कुछ खेती होती है। किन्तु उपज इतनी कम है कि सारी प्रजा को दीवाली के अवसर पर ही भात खाने को मिलता है।

हमारी गाड़ी कितने राज्यों की सीमाओं को पार करती हुई धक-धक करती जा रही थी। राजपूताने में कितने ही ऐसे छोटे-छोटे राज्य हैं जिनका अधिकांश मरुभूमि ही है। अतः वहाँ के राजा लोग बहुत अमीरी ठाटबाट या शौक़ीनी रहन-सहन नहीं रख सकते। साधारण जनसमुदाय के विषय में तो कहना ही क्या है। वे तो हिन्दुस्तान में सर्वत्र ही ग़रीब हैं। पहाड़ों को लाँघती हुई हमारी गाड़ी इस मरुप्राय देश में जा रही थी। पहाड़ और गाड़ी से मानो बाज़ी लगी हुई थी, किन्तु इसमें पहाड़ों की ही जीत जान पड़ती थी। हमारी आँखें थक गई थीं। हिमालय से परिचित मेरे नेत्र उस दीन प्रकृति को देखकर विरक्त-से हो रहे थे। उस समय मैं सोचता था क्या उदयपुर भी ऐसा ही होगा।

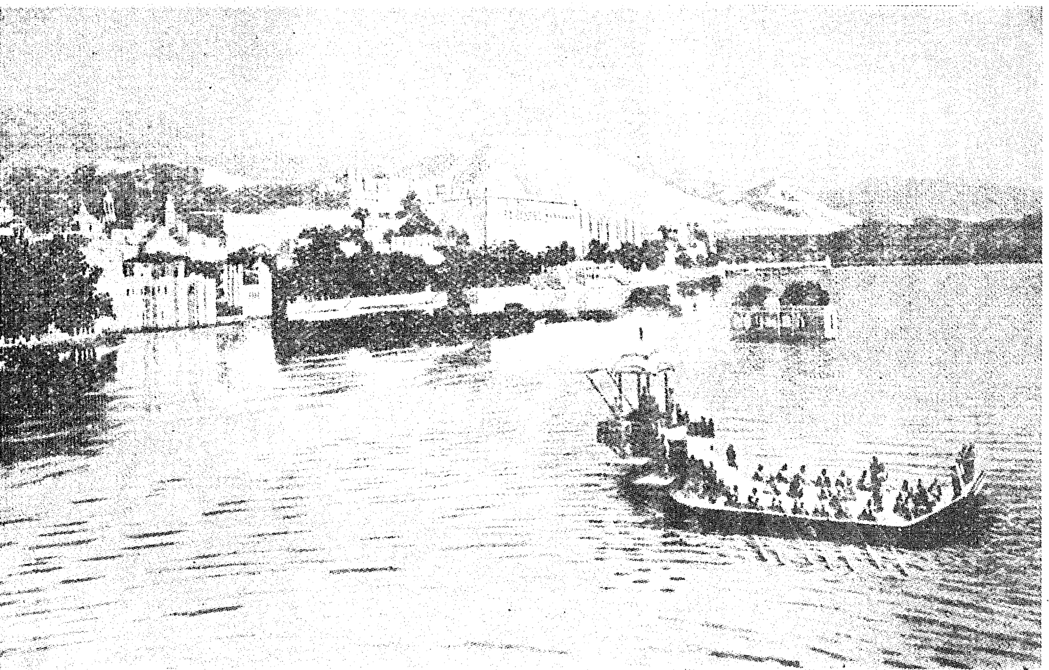
अजमेर के बाद जितने पहाड़ नज़र आये, प्रायः उन सबों पर मैंने क़िलेबन्दी देखी। क़िलों में मज़बूत पत्थर के मकान बने हुए थे। देखने में बहुत पुराने जान पड़ते थे। राजस्थान के बहादुर लड़ाके यहीं रात्रि में आश्रय लेते थे। उन दिनों किसी मुग़ल के लिए उन पहाड़ों का सामना करना आसान न था। मेरी ध्यानमुद्रा टूट गई जब मेरी गाड़ी चित्तौरगढ़ पहुँची। यहीं से बदलकर उदयपुर-स्टेट-रेलवे पकड़नी थी।

गाड़ी पहले से ही खड़ी थी। सवार होते ही चन्द्रदेव के सहित पश्चिम का नीला नभ साथ ही चल रहा था। हम जलपान करते हुए उस दिगन्त व्याप्त पर्वतप्राय मरुभूमि पर अपनी राय भी ज़ाहिर करते जाते थे।

हम लोग चित्तौरगढ़ से चार घंटे में उदयपुर पहुँच गये। स्टेशन पर हम लोगों को लेने के लिए कुछ सज्जन आये हुए थे। कुछ समय तो जान-पहचान और कुशल-प्रश्न में लगा। फिर मोटर में सवार होकर हम शहर में गये। गेस्ट-हाउस बिजली की रोशनी से जगमगा उठा था। एक छोटी पहाड़ी पर महाराना का महल चमक रहा था। उस समय मुझे कोई भी छोटा मकान नजर नहीं पड़ा। रात्रि के समय उस विद्युत्प्रकाश में मुझे यही मालूम होता था, मानो सारा उदयपुर जगमग कर रहा है! मैंने अपने मित्र से कहा—हमें अब अपनी सुनी-सुनाई धारणा बदलनी पड़ेगी।

प्रातःकाल जब हम लोग उठे तब सात बज चुके थे, किन्तु अभी अँधेरा ही था। उस समय कुछ वृष्टि भी हो रही थी, जिससे प्रकृति का सौन्दर्य कुछ निखर-सा आया था। सघन वृक्षों से ढँके उस पहाड़ पर कुहरा-सा छाया हुआ था, जो शोभा में और भी वृद्धि कर रहा था।

आठ बजे हम लोग बाहर निकलने वाले थे, प्रोग्राम काफ़ी लम्बा-चौड़ा था, तो भी हम लोगों को रुकना ही पड़ा। किन्तु जलपान करने के बाद भी पानी नहीं बन्द हुआ। कुछ देर और रुके, किन्तु वहाँ कोई सुनवाई न थी। अन्त में हम लोगों को चलना ही पड़ा, क्योंकि उदयपुर में हम लोगों को गिने-चुने दिन ही बिताने थे, और उन्हीं दिनों में ही मुख्य-मुख्य दर्शनीय स्थानों को देखना था। हम लोगों की मोटर शहर की एक मुख्य गली से गुजर रही थी। इमारतें तो बड़ी-बड़ी थीं, किन्तु सड़कें कहिए या गलियाँ हमें बिलकुल रद्दी मालूम पड़ती थीं। उस रोज़ पर्व का दिन था, बाज़ार में काफ़ी चहल-पहल थी। राजपूत लोग बड़ी संख्या में राजमहल की ओर जा रहे थे। स्त्रियों



उदयपुर

की भी काफ़ी भीड़ थी। इतने बड़े जन-समूह में मैंने बहुत कम लोगों को राजपूती बाने में देखा। अब न वह लम्बी दाढ़ी और मूछें हैं, न वह विराट् शरीर और चौड़े सीने। उनके चेहरों पर कान्ति या तेज भी नहीं, और न वह गेहुँआ रङ्ग ही। नाक पिचकी और आँखें भीतर धँसी हुई देखकर मेरा चित्त प्रसन्न नहीं हुआ।

हम लोग उदयपुर के महान् सरोवर के गन-गोर-घाट पर पहुँचे। यहाँ से नाव-द्वारा हम लोग 'जगनिवास' की ओर चले। इसको महाराना के पूर्व पुरुषों ने बनवाया था। ग्रीष्म-ऋतु में जब सारा राजपूताना गरमी के मारे तड़फता है उस समय भी यहाँ ठंडा होने के कारण महाराना इस चित्रमय भवन में निवास करते थे। महल तालाब के बीच में है। भीतर कितने ही फुहारे लगे हैं। गर्मी मालूम पड़ने पर ये सब खोल दिये जाते हैं।

उदयपुर के आस-पास कृत्रिम झीलें हैं। सिवा एक तरफ़ के बाक़ी तीनों तरफ़ झाल ही झाल है। इन्हें उदयपुर में 'सागर' कहते हैं। बहुत बड़ीझील को 'समन्दर' कहते हैं। ये सब झालें इस तरह एक-दूसरे से जुटी हुई हैं कि हर जगह किश्तियों से जाया जा सकता है। उदयपुर के कुछ अंश तो टापुओं की तरह इन झीलों के बीच-बीच में पड़े हैं। महाराना का लीलाभवन भी इनके बीच में ही है देखने में ये सब छोटे-छोटे टापू मालूम पड़ते हैं।

कुछ दूर पर हमें एक भवन नजर पड़ा। यह भवन दो बातों के लिए प्रसिद्ध है। एक तो पिता से बाग़ी हुए शाहजहाँ को महाराना ने यहीं जगह दी थी। शाहजहाँ ने इस जगह को बहुत पसन्द किया था। दूसरे ग़दर के दिनों में भयभीत अँगरेजों को यहीं आश्रय मिला था। तत्कालीन महारान ने ख़तरे का सामना करके इन लोगों को शरण दी थी।

दूसरे रोज हम लोगों का चक्कर कुछ देर तक हुआ। हम उदयपुर शहर से प्रायः ६० मील की दूरी पर 'जय-समन्दर' तक गये। 'जय-समन्दर' सचमुच ही एक समुद्र की तरह है। इसका घेरा ९२ मील है।

इसके भीतर कितने ही पहाड़ हैं, जिन पर बहुत-से गाँव बसे हुए हैं और देखने में द्वीप-से मालूम पड़ते हैं। हम लोग कुछ दूर तक नाव पर गये। उस अगाध 'जय-समन्दर' को देखकर वापस लौट आये।

महाराना का आराम बाग़ जादूघर के पास है और महल तक चला गया है। जादूघर में राज्य में मिली हुई पुरानी चीज़ों का संग्रह है। यहीं महाराना प्रताप की तलवार है। इसी तरह की इसमें और भी कितनी ही भव्य स्मृतियाँ रक्खी हुई हैं, जो एक हिन्दू के मन में वीर-रस का संचार करती हैं।



उदयपुर नगर और राज-भवन

उदयपुर की दर्शनीय सभी चीज़ें मित्र ने मुझे दिखलाईं। महाराना के महल से लेकर पब्लिक स्कूल तक मैंने देखा। पब्लिक स्कूल की मनोवैज्ञानिक रसायन-शाला बहुत रोचक तथा उपयुक्त चीज़ मालूम हुई। बालकों को उनके चरित, प्रकृति और मन की प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती है, जो एक नई संस्था है, जिसे देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

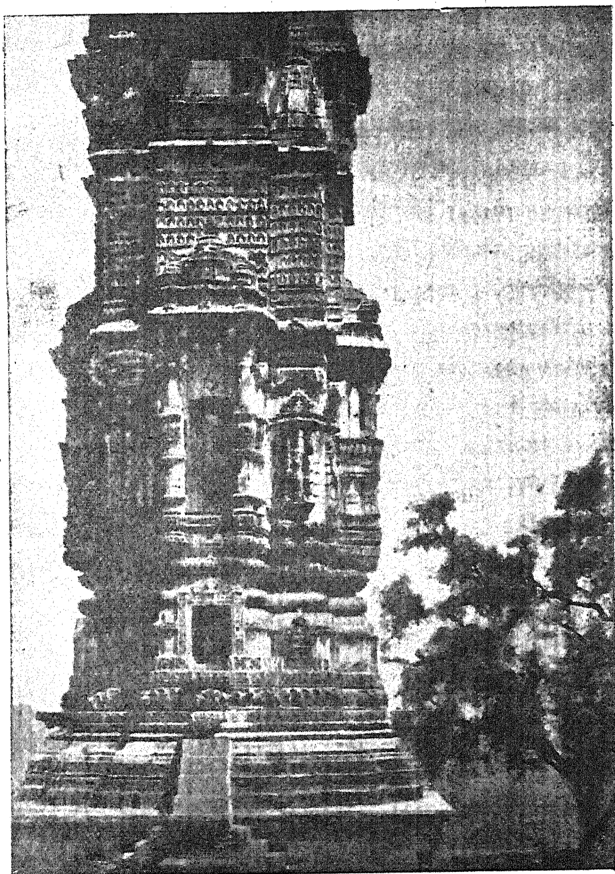
उदयपुर शहर के चारों तरफ़ चार टूटे हुए फाटक हैं, जिन्हें 'चोल' कहते हैं। ये टूटे फाटक पुराने शहर की सीमा सूचित करते हैं। उदयपुर बहुत ही छोटा शहर है, किन्तु यह फाटक बहुत बड़ा है। महाराना और उनके कुछ रिश्तेदारों के महलों के सिवा और सब इमारतें शहर के योग्य नहीं हैं। गलियाँ भी तंग हैं। तो भी बिजली का प्रबन्ध है। महाराना का महल तो आधुनिक ढंग की इमारत का एक सुन्दर नमूना है। सारे शहर में यदि कोई देखने योग्य इमारत है तो महाराना का महल है। उदयपुर महाराना उदयसिंह ने बसाया था।

शहर के अन्दर तीन सौ वर्ष का पुराना शानदार पत्थर का एक मन्दिर है। यह मन्दिर चित्तौर के पुराने मंदिरों की भद्दी नक़ल है। लोग कहते हैं कि मीराबाई ने जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) से भगवान को बुला कर यहाँ पधराया था, इसीलिए इसे जगन्नाथ-मन्दिर कहते हैं।

उदयपुर-राज्य राजपूताना में ही क्या, सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। महाराना का राजवंश सातवीं शताब्दी से राज्य करता आ रहा है। एक समय था जब चित्तौर अपनी बहादुरी से मुग़लों को नाक में दम किये हुए था। उसके बाद भी उदयपुर स्वतन्त्र रहा। आज भी उदयपुर के सिक्कों में 'दोस्तेलंदन' लिखा जाता है। यहाँ के महाराणाओं में कोई भी आज तक ब्रिटेन के बादशाह का ए० डी० सी० नहीं बनाया गया है।

हाल में उदयपुर-राज्य के भीतर 'नाथद्वारा' में कई सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों में 'सिविजानपदा' शब्द लिखे हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में यहाँ प्रजातन्त्र राज्य था। उस समय इस बहादुर देश में जनसत्तात्मक शासन था। हिन्दुस्तान में पहले ऐसे बहुत से प्रजातन्त्र राज्य थे। उन्हीं में से शिवि का भी एक गणतन्त्र था। उदयपुर की आर्थिक दशा असन्तोषजनक है। कुछ ही वर्ष पहले अफ़ीम की खेती से उदयपुर-राज्य को काफ़ी आमदनी होती थी। अब इसके रुक जाने से उदयपुर का निर्यात प्रायः बन्द हो गया है और कोई चीज़ व्यापार के लिए बाहर नहीं जाती, बल्कि बाहर से

ही खाने-पीने से लेकर कपड़े-लत्ते तक सभी चीज़ें बहुत परिमाण में राज्य में आती हैं। इसलिए वहाँ का सिक्का ब्रिटिश के सिक्के के समान वज़नदार होते हुए भी मूल्य में कम हो गया है। उदयपुरी



कीर्ति स्तम्भ

रुपया अँगरेज़ी दस आने के बराबर है। उदयपुर में पुराने ज़माने से

ही अपना सिक्का है। यहाँ की इकन्नी चाँदी की होती है। यहाँ के अपने सिक्कों पर 'दोस्तलंदन' शब्द लिखा होता है।

उदयपुर पहाड़ों के भीतर बसा है। राज्य की उपजाऊ जमीन बड़े-बड़े जागीरदारों में बँटी हुई है और प्रत्येक जागीरदार अपनी-अपनी जागीर का स्वतन्त्र शासक है। प्रजा बहुत गरीब, अशिक्षित और बाहरी दुनिया से अपरिचित है। यहाँ के भीलों को जंगल के कन्द-मूल खाकर जीना और फटे-पुराने लत्तों से अपनी लाज ढँकना पड़ता है। भीलों की ऐसी दशा देखकर मैं बहुत दुखी हुआ।

हमने उदयपुर से लौटती बार चित्तौरगढ़ को भी देखा। रेलवे-स्टेशन से सिर्फ़ तीन ही मील की दूरी पर एक छोटी-सी पहाड़ी पर यह ऐतिहासिक गढ़ बना हुआ है। चित्तौरगढ़ महाराना प्रताप और उनके पहले समय में भी समस्त राजपूती शक्ति का एक प्रधान केन्द्र था। यहीं अलाउद्दीन खिलजी की अपार सेना से महीनों घिरे रहने पर जब सफलता की आशा न रह गई तब पद्मिनी ने अपने को अग्नि को अर्पण किया था। मीराबाई के पूजा-गृह का चिह्न अब भी मौजूद है, और उसका जीर्णोद्धार किया जा रहा है। महाराना कुम्भ का विजय-स्तम्भ उस जमाने की एक शानदार स्मृति है। चित्तौर के भीतर ऐसी-ऐसी बहुत सामग्रियाँ हैं जो किसी भी इतिहास-प्रेमी के लिए काफ़ी हैं। चित्तौरगढ़ में वहाँ की बहुत-सी पुरानी चीज़ों को एक बड़े मकान में रख कर एक म्युज़ियम का रूप दिया गया है।

चित्तौरगढ़ की चारों ओर पत्थर की मज़बूत दीवार है, जो दूर से ही बहुत डरावनी मालूम पड़ती है। गढ़ तक गाड़ियों की सड़क बनी हुई है और रास्ते के बीच-बीच में बड़े-बड़े फाटक हैं जिनको पोल कहते हैं।

—दि० नेपाली

आदि भारत का संस्कृति-केन्द्र, मोहन-जो-दड़ो

पाठकों ने पाँच पज्ञार वर्ष पुराने शहर मोहन-जो-दड़ो का नाम सुना ही होगा। कुछ वर्ष हुए यह ज़मीन से खोदकर निकाला गया है। सिन्ध के लरकाना ज़िले के डोकरी नामक स्टेशन से यह शहर आठ मील दूर है। प्रसिद्ध भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी ने सब से पहले सन् १९२२ में इस मोहन-जो-दड़ो का पता लगाया था। तब से सरकारी पुरातत्त्व विभाग ने यहाँ काफ़ी खुदाई की है। स्वर्गीय बैनर्जी की इस आश्चर्यजनक खोज ने एक इतनी प्राचीन किन्तु उन्नततर सभ्यता को प्रकाश में ला दिया जिस सभ्यता से वर्त्तमान संसार बिलकुल अनभिज्ञ था।

हममें से हर एक के लिए यह सम्भव नहीं है कि हम केवल खण्डहरों और वहाँ से प्राप्त पुरातन अवशेषों को देखकर मोहन-जो-दड़ो के निवासियों की संस्कृति और सभ्यता के वास्तविक महत्त्व को ठीक ठीक समझ सकें। इसका असली महत्त्व तो तभी हमारी समझ में आ सकेगा जब हम प्राग-ऐतिहासिक काल की पट-भूमिका में मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता को समझें, और इन खुदाई से निकली हुई पुरातन छिन्न-भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध मोहन-जो-दड़ो के भूले हुए लोगों के साथ जोड़ें। अक्षर-अक्षर जोड़कर मोहन-जो-दड़ो के इतिहास के पुनर्निर्माण की अनेक चेष्टाएँ की जा रही हैं और हर रोज़ हमें अतीत की इस झाँकी पर नया प्रकाश मिलता है।

मुझे मोहन-जो-दड़ो को खोदने और उसके खण्डहरों का अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ अपने व्यक्तिगत अनुभव और खोज से और अपने दूसरे साथियों के परिश्रम के परिणामों से इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ मालूम हो सका है उसकी रूप-रेखा को पेश करने का मैं यहाँ प्रयत्न करूँगा, ताकि पाठक भारत की इस पुरातन सभ्यता का वास्तविक महत्त्व ठीक ठीक समझ सकें।

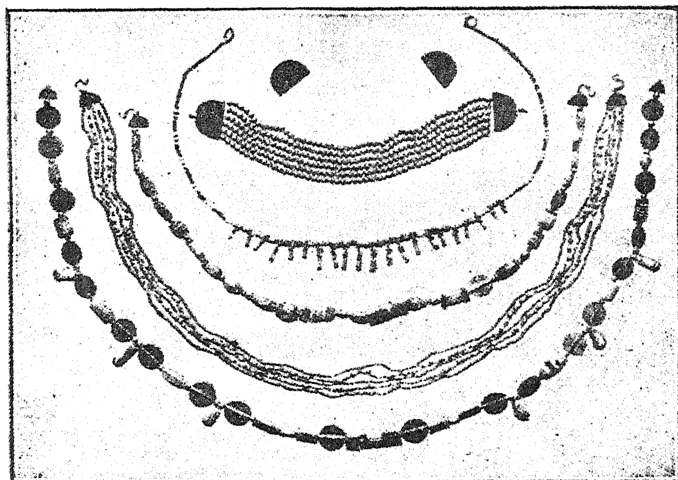
इतिहासज्ञ यह समझते थे कि लगभग चार हज़ार वर्ष पूर्व आर्य जाति भारत में आई; अर्थात् उस समय जबकि लौह-युग का

प्रारम्भिक काल था, और उन्होंने यहाँ की असभ्य, काले रंग की, चपटी नाक वाली जंगली जातियों को हरा कर इस देश पर अधिकार कर लिया और आर्यों के आने के पहले यहाँ ऐसी कोई सभ्यता न थी जिसे सच्चे अर्थों में सभ्यता कहा जा सके। किन्तु अब मोहन-जो-दड़ो के पता लगने पर हमें अपनी इस धारणा को समूल उखाड़ कर फेंक देना होगा। मोहन-जो-दड़ो ने यह साबित कर दिया कि आर्यों के भारत आगमन से बहुत पहले सिन्ध में एक अत्यन्त ऊँची सभ्यता का विस्तार था, जो आर्यों और अपनी समकालीन इलाम, मेसोपोटामिया; बाबुल और मिस्र की सभ्यता से कहीं आगे बढ़ी हुई थी। मोहन-जो-दड़ो की खोज की यही सब में महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

आर्यों के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में हमें अश्व और लोहे का वर्णन मिलता है। किन्तु मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता में अश्व और लोहे, दोनों का नाम निशान तक नहीं। मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता लौह-युग के बहुत पहले से प्रारम्भ हुई, यानी प्रस्तर युग और ताम्र-युग के सन्धिकाल में। उस समय प्रस्तर-युग समाप्त हो रहा था और ताम्र-युग शुरू हो रहा था। मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में हमें पत्थर और ताँबे दोनों के औज़ार काफ़ी संख्या में मिले हैं।

सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने अपने नगर की बुनियाद डाली। समानान्तर में बिछी हुई नगर की सीधी चौड़ी सड़कों, गलियों और कूचों को देखकर यह मालूम होता है कि बहुत ही दक्ष इञ्जीनियरों ने इसका नक़्शा तैयार किया होगा। ये सड़कें और गलियें नगर के एक सिरे तक फैली थीं और इनके दोनों किनारों पर पकी हुई ईंटों की इमारतें, महल और आलीशान मन्दिर थे। मानव सभ्यता को मोहन-जो-दड़ो की जो सब में बड़ी देन है वह है उसकी सफ़ाई के लिए ज़मीन के नीचे पटी हुई नालियों की पद्धति। उनकी यह नालियों की पद्धति बेहद पेचीदा किन्तु सम्पूर्ण थी और स्वच्छता के दृष्टिकोण से उसमें किसी तरह की कोई कमी न थी।

यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि आजकल भी ऐसे अनेक शहर हैं जहाँ इतनी अधिक सफ़ाई और नालियों की यह पद्धति नहीं मिलेगी। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले नालियों की इतनी निर्दोष पद्धति मौजूद थी। इससे यह स्पष्ट है कि मोहन-जो-दड़ो के लोग कितने सभ्य रहे होंगे और उन्हें स्वच्छता का कितना अधिक ज्ञान रहा होगा।



मोहन-जो दड़ो के गहने

सीधा राज्य-शासन के अथवा म्युनिसिपैल्टी के मातहत शहर का प्रबन्ध होता था। लोगों में आपस में प्रेमपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध था। हर नागरिक अपनी संस्कृति को उन्नत बनाने में अपना अपना कर्तव्य निभाता था। अलग-अलग काम और अलग-अलग धन्धे बँटे हुए थे। व्यापारी, किसान, कसेरे, सुनार, चाँदी का काम करने वाले, पत्थर का काम करने वाले, बसोड़, कुम्हार, जुलाहे, कुंजड़े, बढ़ई, मैमार, इमारत बनाने वाले, हाथीदाँत और हड्डी का काम करने वाले, शंख और मोती का काम करने वाले, मछिहारे, शिकारी, पुरोहित, शिक्षक, सैनिक, तेली, नाई, भंगी आदि आदि मोहन-जो-दड़ो

के कुछ पेशेवर लोग थे। वेश्याएँ गाने और नाचने का पेशा करती थीं। मोहन-जो-दड़ो में एक नर्त्तकी की काँसे की मूर्ति मिली है जो नृत्य-अभिनय दिखा रही है।

हर परिवार अलग-अलग घरों में रहता था। हर घर में बहुत से कमरे, ऊँचे-चौड़े दरवाज़े और खिड़कियाँ होती थीं। हर घर का सदर दरवाज़ा सड़क पर खुलता था। सदर दरवाज़े के पास एक चौड़ा सा कमरा होता था, जहाँ चौकीदार, दरबान या कुली रहते थे। उसके बाद बैठकखाना होता था। बैठकखाने के बाद स्त्रियों के लिए अन्तःपुर होता था। घरों में अन्तःपुर में सोने का कमरा, रसोई-घर आदि होते थे। हर घर में एक कुँआ होता था, जिसका पानी पीने के लिए और दूसरे कामों में इस्तेमाल होता था। दो-मंज़िले मकान भी होते थे। खुदाई से उनकी सीढ़ियों के अवशेष मिले हैं, और ये सीढ़ियाँ हमारी आजकल की सीढ़ियों से बिलकुल मिलती-जुलती हैं। जैसे ही हम उन मकानों के अन्दर घुसते हैं, हमारे सामने पाँच हज़ार वर्ष के अतीत के चित्र आ जाते हैं और हम सोचने लगते हैं कि मोहन-जो-दड़ो के वे प्राचीन निवासी किस प्रकार अपना जीवन बिताते होंगे? इसी खँडहर के अन्दर जनता के सुख-दुःख, प्रेम और वियोग की कितनी ही कहानियाँ बिखरी पड़ी होंगी। छोटे-छोटे बच्चों का रोना और मुसकराना भी यहाँ छाया होगा! प्रेमियों का प्रेम-सम्भाषण भी यहाँ मूक मौन पड़ा होगा। उस अतीत के इतिहास की साक्षी केवल यह ईटें और दीवारें रह गई हैं।

एक बड़ा मकान खोदकर निकाला गया है जो समझा जाता है कि राजमहल है। महल के बीच में एक बड़ा-सा ऊँचा कमरा है, जिसमें खूब ऊँचे ऊँचे खम्भे हैं। इस बड़े कमरे के चारों तरफ़ पचासों छोटे-छोटे कमरे हैं। बड़े कमरे के पास एक पक्का तालाब है, जिसके चारों तरफ़ बारादरी और कमरे हैं। दो तरफ़ से सीढ़ियाँ तालाब में उतरती हैं। एक बड़े कमरे से दूसरी गैर बारादरी से। तालाब स्वच्छ और ताजे जल से भरा रहता था। जब उसका पानी गन्दा हो जाता था तो एक बड़ी नाली से बाहर निकाल दिया जाता था।

जिस तरह रोम की शाही महिलाएँ अन्तःपुर के तालाब में स्नान किया करती थीं उसी तरह मालूम होता है कि इस महल की महिलाएँ भी इसी तालाब में नहाया करती होंगी। इस महल की सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात इसके बड़े-बड़े स्नानागार हैं, जिनकी बहुत सी दीवार, फ़र्श और नालियाँ अब तक ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। यह कितनी हैरत की बात है कि जब प्राचीन काल में दुनियाँ के अधिकांश लोगों में असभ्यता का अंधकार छाया हुआ था और उस समय जबकि आजकल की अनेक सभ्य जातियाँ जंगली हालत में थीं, मोहन-जो-दड़ो के निवासी इतने सभ्य और इतने शीलवान थे कि उन्हें स्नानागार बनाने की बात सूझी। हमने स्वयम् हज़ारों वर्ष बाद स्नानागार में नहाना सीखा है।

हालाँकि उस ज़माने के लोगों की पोशाक नष्ट हो गयी है फिर भी थोड़े बहुत जो अवशेष यहाँ पाये गये हैं, उससे हम उस ज़माने के लोगों की पोशाक का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। मिट्टी के खिलौने और मिट्टी के बरतनों पर बनी हुई चित्रकारी से हमें उस ज़माने के लोगों का रहन-सहन मालूम हो सकता है। पुरुष कमर से नीचे धोती पहना करते थे, सिरों पर पगड़ी बाँधते थे, बदन में कमीज़ और कोट और पैरों में जूता पहनते थे। स्त्रियाँ ज़रीदार और कामदार साड़ियाँ, जाकेट और लबादों का इस्तेमाल करती थीं।

इसमें ज़रा भर भी संदेह नहीं कि मोहन-जो-दड़ो की स्त्रियाँ बेहद फ़ैशनेबुल थीं। उनके विविध प्रकार के गहनों और शृङ्गार की वस्तुओं के जो अवशेष पाये गये हैं, वे सब इस बात को साबित करते हैं कि वे तरह-तरह के ज़ेवर कर्णफूल, झूमर, नथ, बाज़ूबन्द, चूड़ियाँ और बुन्दे आदि पहनती थीं। ये आभूषण सोने, चाँदी, काँसे, हाथीदाँत और दूसरे क़ीमती जवाहिरातों के बने होते थे। वे कलाई से लेकर कोहनी तक चूड़ियाँ पहनती थीं। सिन्ध की स्त्रियों में अब तक वही रिवाज पाया जाता है। उनकी जड़ाऊ मेखला सहज ही में दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। नाकों में वे जो नथ पहनती थीं वह एक बारीक सोने की ज़ंजीर से कानों

में बँधी रहती थी। इसी तरह की नथ का रिवाज अब तक सिन्ध और बंगाल की स्त्रियों में पाया जाता है। स्त्रियाँ अपने बालों को वेणियों में सँवारती थीं और इन सब वेणियों का एक जूड़ा बनाती थीं। वे जूड़ों को सोने, चाँदी और दूसरी क़ीमती धातुओं के हेयर पिनों से सजाया करती थीं। वे अपनी आँखों में सुरमा या काजल लगाती थीं। वे सीसे का दर्पण और लड़की और हाथीदाँत की कंघियाँ इस्तेमाल करती थीं। इस तरह के दर्पण बंगाल में शादियों की रस्म में अब भी इस्तेमाल किये जाते हैं और इस तरह की कंघियाँ सिन्ध और बंगाल में अब भी पायी जाती हैं।


(1)


(2)


(3)


(4)

मोहन-जो-दड़ो की मोहरें



मोहन-जो-दड़ो की मोहर

आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले के बच्चे हमारे आजकल के बच्चों की तरह ही खिलौने पसन्द करते थे। हम आजकल जिस तरह अपने बच्चों को गुड़ियाँ और खिलौने देकर प्रसन्न होते हैं वैसे ही मोहन-जो-दड़ो के लोग भी होते थे। खुदाई से जो अवशेष मिले हैं उनमें हमें अनगिनती मिट्टी के खिलौने, गुड़ियाँ, और तरह तरह के पशु, पक्षी, साँप, स्त्री, पुरुष आदि की मूर्त्तियाँ मिली हैं। लड़कियों के लिए छोटे-छोटे खाना पकाने के बरतन, जिससे वे खेल सकें, आदि भी वहाँ मिले हैं। उस ज़माने में भी कलदार खिलौने बनाने का रिवाज़ था। एक सींग वाला साँड़ मिला है जिसमें चाबी भर देने से वह सिर हिलाने लगता है। पक्षियों से हाँके जाने वाले रथ भी मिले हैं। जिसमें चाबी भर देने से रथ अपने आप चलने लगता है। छोटे-छोटे बच्चों के इस्तेमाल के लिए मिट्टी के बने हुए चमकदार रंगों की चूसनी पाई गई हैं। हमारे आजकल के खिलौनों से ये खिलौने इतने मिलते-जुलते हैं कि जब तक किसी को यह न बताया जाय कि ये पाँच हज़ार वर्ष पुराने हैं, तब तक कोई अपने आप इस बात का विश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि बिलकुल उस तरह के खिलौने अब भी बंगाल के गाँवों में बनाये जाते हैं। मोहन-जो-दड़ो में पाये गये

खिलौनों में एक सीटी है, जो पाँच हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी वैसी की वैसी ही बनी हुई है। वह मिट्टी की बनी हुई एक मुर्ग़ी की शक्ल की है। पाँच हज़ार साल बाद जब मैंने उसे बजाया तो उसकी आवाज़ में वही पुराना सुरीलापन मौजूद था।

मोहन-जो-दड़ो में जो बरतन इस्तेमाल किये जाते थे, वे सब कुम्हारों के चाक पर बने होते थे। उनके प्रमुख बरतन मर्तबान, प्याले, सुराहियाँ, गिलास और घड़े आदि थे। ये एक रंग और बहुधा कई रंगों से रँगे जाते थे और उनके ऊपर तरह-तरह की चित्रकारी बनाई जाती थी। जिस तरह आज चाक पर मिट्टी के बरतन बनाकर भट्टी में पकाने का रिवाज है ठीक उसी तरीक़े से पाँच हज़ार साल पहले भी था। सिन्ध और भारत के दूसरे हिस्सों के कुम्हारों में और मोहन-जो-दड़ो के कुम्हारों में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। वे ताँबे के बरतनों का भी इस्तेमाल करते थे जिनमें घड़े, लोटे, प्याले, खाना पकाने के बरतन, गिलास, कटोरे आदि थे। ताँबे के दूसरे औज़ारों का भी उपयोग होता था जैसे कुल्हाड़ी, बल्लम, छुरे, हथौड़े, अस्तुरे, चाकू और हाथियों के चलाने के लिए अंकुश आदि। सुइयाँ और मछली पकड़ने के काँटे हुबहू इसी तरह के होते थे जिस तरह कि आजकल इस्तेमाल किये जाते हैं। एक कामदार लम्बे मुँह का घड़ा पाया गया है, जो कारीगर की कला और लोगों की सुन्दर रुचि का परिचायक है। शंख की बनी हुई चीज़ें भी बहुधा इस्तेमाल की जाती थीं, जैसे चूड़ियाँ, अँगूठियाँ, नाक की कीलें और सजावट के सामान। और भी अनेक चीज़ें शंख की बनाई जाती थीं। ढाका और बंगाल में बहुत से शंख के काम करने वाले ठीक उसी प्रकार से शंख की चीज़ें बनाते हैं और ठीक उसी तरह की शंख की चीज़ें बनती हैं जिस तरह आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले मोहन-जो-दड़ो के कारीगर बनाते थे।

मोहन-जो-दड़ो से जो पुराने अवशेष खोदकर निकाले गये हैं उनमें बहुत-सी चीज़ें देखने में नगण्य और बेकार सी लगती हैं। लेकिन यदि हम उन पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करें तब हमें उनकी

वास्तविक क़ीमत का पता चलता है। इस बात का अनुमान करना और सही तखमीना लगाना कि पाँच हज़ार वर्ष पहले पुराने लोगों की संस्कृति कैसी थी, आसान काम नहीं है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि किस वातावरण और किस परिस्थिति में उन्होंने अपनी भौतिक संस्कृति की उन्नति की। यह आज हमारे लिए बहुत सहज है कि हम कहीं अधिक पैने औज़ारों से तरह तरह की चीजें बना लें। लेकिन क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि उस ज़माने में पत्थर के बेडौल हथियारों और ताँबे के औज़ारों से कलापूर्ण वस्तुएँ बनाने का काम कितना मुश्किल रहा होगा। हमारी देह और प्राणों को एक साथ रखने के लिए जीवन की जो आवश्यक वस्तुएँ हैं उनका आविष्कार भी उसी ज़माने में हुआ है और आज हम अपने उन पूर्वजों के आविष्कारों के फल का उपभोग कर रहे हैं। हम यह सोच भी नहीं सकते कि इन आविष्कारों में उन्हें कितनी परेशानी उठानी पड़ी होगी। उनकी संस्कृति की छाप ज्यों की त्यों आज तक चली आती है। हम मुश्किल से समझ सकते हैं कि हमारे ऊपर उनका कितना ऋण है।

मोहन-जो-दड़ो के लोग गाय, बैल, भैंस, भेड़, सुअर, हाथी और ऊँट आदि पालते थे। गेहूँ, बाजरा और कपास की खेती करते थे। सिन्ध आज भी भारतवर्ष में रुई का प्रमुख केन्द्र है। सिन्ध के बैल, गाय अब तक मशहूर हैं। क्या आजकल के रुई उपजाने वाले किसान और रुई के व्यापारी यह कल्पना कर सकते हैं कि वे अपने रुई के धन्धे के लिए मोहन-जो-दड़ो के लोगों के कितने ऋणी हैं? हम अब तक ठीक उसी तरह की बैलगाड़ी, ठीक वैसे ही कुम्हारों के चाक और मिट्टी के बरतन, उसी तरह की नावें, गहने और कपड़ा इस्तेमाल करते हैं कि जिनका प्रारम्भ उस ज़माने के लोगों ने किया था।

मोहने-जो-दड़ो के लोगों के भोजन नें खास चीज़ गेहूँ, बाजरा, चावल, तरकारियाँ, फल, मूल तरह-तरह के पशु-पक्षियों के माँस जैसे भेड़, बकरी, गाय, सुअर, कछुआ, और बत्तख़ आदि होते थे। तरह-तरह की मछलियाँ भी रहती थीं। गाय और भैंस का दूध और दूध

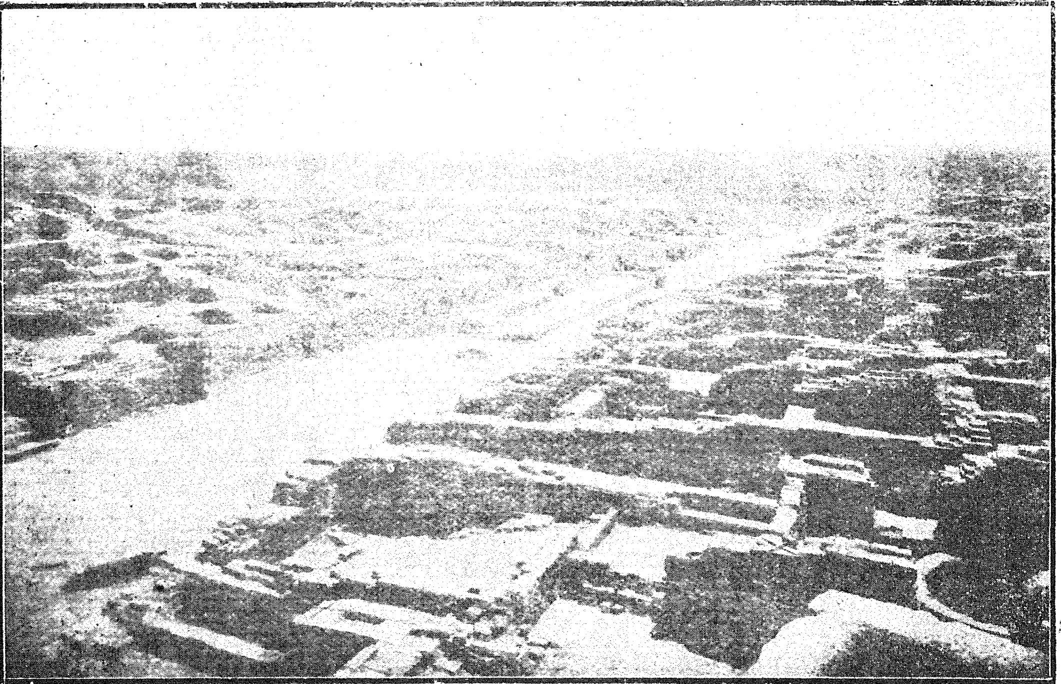
की बनी हुई अन्य चीज़ें भी बनाई जाती थीं। स्त्रियाँ खाना बनाने की कला से ख़ूब परिचित थीं। मसाला आजकल की तरह ही सिल पर पीसा जाता था।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों की आमदनी का प्रमुख ज़रिया खेती तथा जल और थल के रास्ते व्यापार था। दुनियाँ के विविध देशों के साथ उनका वाणिज्य सम्बन्ध क़ायम था। आजकल के सिन्धी व्यापारी अपनी उसी विशेषता को बनाये हुए हैं। ये लोग आजकल की तरह के व्यापारी जहाज़ बनाते थे। ताम्रपत्र के चित्र मिले हैं जिनको देखने से पता चलता है कि आजकल सिन्ध नदी में कोठरी और हैदराबाद में जो नावें चलती हैं ठीक उसी तरह की नावें उस ज़माने में भी इस्तेमाल की जाती थीं।

बैलगाड़ी ही यातायात का मुख्य साधन था; लेकिन लोग रथ, हाथी, भैंस, बैल, और नावों को भी आने-जाने के लिए काम में लाते थे।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों की सील-मुहरें (दस्तख़त की मोहरें) देखकर पता चलता है कि वे पढ़े-लिखे थे। चूँकि हर घर में इस तरह की सील-मुहरें पायी गई हैं, इससे पता चलता है कि पढ़े-लिखे लोगों की तादाद बहुत ज्यादा थी। इन सील-मुहरों में तरह तरह की तस्वीरें बनी हुई हैं, जैसे ब्राह्मणों के नन्दी, हाथी, गैंडे भैंस और एक सींग के जानवर आदि। मोहन-जो-दड़ो की लिपि चित्रलिपि थी, जिसे पढ़ने में, दुर्भाग्य से, आज तक सफलता नहीं मिली। इस तरह की मुहरें समकालीन मैसोपोटामिया में भी इस्तेमाल की जाती थीं। समझा जाता है कि ये हुंडियों के काम में आती थीं; क्योंकि अब तक उनके निश्चित इस्तेमाल की बात मालूम नहीं हो सकी है।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों का धर्म, जहाँ तक जाना जा सकता है, शिव और दुर्गा की उपासना था। यह अब तक नहीं मालूम हुआ कि मोहन-जो-दड़ो के लोग मृतक व्यक्ति को गाड़ते थे या जलाते थे। खुदाई से खोपड़े और अस्थिपंजर मिले हैं, लेकिन वे श्मशान या क़ब्रिस्तान में नहीं मिले। ये सड़कों पर और मकानों में पाये गये हैं।



मोहन-जो-ड्डो के तालाब

मैंने एक कमरे से स्त्री-पुरुष और बच्चों के एक दर्जन अस्थिपंजर खोद कर निकाले हैं। एक लड़की के हाथ का ढाँचा अब तक है। उसमें ताँबे की चूड़ियाँ पड़ी हुई हैं और उसके सिर के पास हाथी दाँत की कंघी पड़ी हुई थी। हड्डियाँ थोड़ी-थोड़ी जली हुई थीं, इससे मालूम होता है कि मकान में आग लग गई होगी और पूरा परिवार जलकर नष्ट हो गया होगा। इन लोगों के अस्थिपंजरों को देखकर यह कहा जा सकता है कि मोहन-जो-दड़ो के लोग वर्तमान भारत के लोगों से भिन्न नहीं थे। उनकी आकृति आजकल के सिन्धियों, गुजरातियों, मराठों और बङ्गालियों से मिलती जुलती थीं।

सवाल उठता है मोहन-जो-दड़ो के लोग आखिर गये कहाँ और उन्होंने अपना नगर छोड़ क्यों दिया! कुछ लोगों का ख्याल है कि आर्यों ने उन्हें लड़ाई में हरा दिया और वे अपना नगर छोड़ कर कहीं और रहने चले गये। लेकिन यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने सिन्धु नदी की भयानक बाढ़ से परेशान होकर अपना नगर छोड़ दिया। हमें इस बात के निश्चित सबूत मिले हैं कि कई बार वे इस तरह की भयानक बाढ़ों के बाद मोहन-जो-दड़ो वापस लौटकर आये और उन्होंने पुराने खंडहरों पर नयी इमारतों की नींव डाली। किन्तु जब वह बाढ़ से तंग होकर अन्तिम बार भाग कर गये तो उसके बाद फिर कभी नहीं लौटे। मालूम होता है कि उन्होंने कोई दूसरा शहर आबाद कर लिया और फिर धीरे-धीरे स्वयं सिन्ध से लेकर बङ्गाल तक फैल गये और अपनी संस्कृति को भी फैलाया।

आधुनिक इतिहासज्ञों का यह कहना है कि आर्य लोगों की दो जातियाँ भारत में आकर बसीं। एक तो लम्बे सिर वाले आर्य, जिनके नमूने हमें पंजाबियों, जाटों और अफगानों में मिलते हैं और जिस श्रेणी में भारत के ऋषि लोग भी थे। दूसरे ऊँचे मस्तक वाले लोग हैं जिनके नमूने हमें सिन्धी, गुजरातियों, मराठों और बंगालियों में मिलते हैं। यही लोग भारतवर्ष में पहले आये और इन्होंने ही सिन्ध की उपत्यका को आबाद किया। सम्भवतः यही लोग मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता के संस्थापक थे।

मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति और भारत की आजकल की संस्कृति पर एक दृष्टि डालते हुए हम इस आश्चर्यजनक नतीजे पर पहुँचते हैं कि न तो मोहन-जो-दड़ो के लोग ही नष्ट हुए हैं और न उनकी संस्कृति ही नष्ट हुई है। मोहन-जो-दड़ो निवासी और उनकी पुरातन संस्कृति हमें आज भी भारत के विविध भागों में दिखाई देती है। आर्यों और पुरातन आर्यों के समन्वय से एक नई सभ्यता का जन्म हुआ जिसे हम हिन्दू सभ्यता कहते हैं। मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति को हम अपने भारतीय संस्कृति के इतिहास की आदि-स्रोत कह सकते हैं।

—सी० आर० राय, एम०-ए० बी० एल०

विजयनगर के स्मृति-चिह्न

विजयनगर-साम्राज्य को अस्त हुए तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए हैं। शोध के वास्ते काफ़ी शिलालेख, विदेशी यात्रियों के वर्णन तथा तत्कालीन साहित्यिक रचनाएँ मौजूद हैं, तो भी अभी तक उसका सच्चा इतिहास दुर्लभ-सा है।

उत्तर-भारतीय भी विजयनगर शहर, सम्राट् कृष्णदेव राय अथवा तल्लिकोटा-युद्ध के बारे में उसका सहस्रांश भी नहीं जानते, जितना रोम या लंडन, एलिज़ाबेथ, अथवा वाटर्लू के बारे में जानते हैं। विजयनगर अपने समय में भारत का ही नहीं, एशिया का प्रधान नगर था। उस समय के रोम या लिस्बन नगर से भी उसका वैभव बढ़ा हुआ था। उसके नगर-रक्षक सिपाही बारह हज़ार थे। ११ लाख सेना वहाँ बराबर तैयार रहती थी। ऐसे ऐतिहासिक स्थान और उसके सम्राट् के बारे में हमने—दक्षिणीयों ने भी—कुछ नहीं सोचा, जब तक मिस्टर रार्बर्ट सेवेल जैसे विदेशी विद्वान् ने 'फ़ारगाटेन एम्पायर' जैसा ग्रन्थ लिखकर हमारी आँखें नहीं खोलीं। अस्तु।

विजयनगर जहाँ स्थित है, वह पुराण-प्रसिद्ध स्थान है। इसी के निकट किष्किंधापुरी थी। रामायण-प्रसिद्ध पम्पा के किनारे ही यह शहर बसा था। पंपा का आधुनिक नाम तुंगभद्रा है। यहीं ऋष्यमूक

तथा माल्यवन्त पर्वत की चोटियाँ हैं। इसी पुराण-प्रसिद्ध-स्थान पर वेदों के भाष्यकार ऋषिपुंगव विद्यारण्य (इन्हीं को माधवाचार्य और सायणाचार्य भी कहते हैं) के शिष्यों ने सन् १३३६ ईसवी में अपने गुरु के नाम पर 'विद्यानगर' की स्थापना की। उनके ये शिष्य हरिहरराय और बुक्कराय थे और यही विजयनगर-राज्य के प्रथम सम्राट् हुए। इनके बारे में अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका है कि ये ओरगल्ल (आन्ध्र-साम्राज्य) से भागकर आये थे अथवा किसी कर्नाटक-राज्य से।

विद्यानगर की स्थापना के पहले कुछ दिन तक ये दोनों भाई आनगोंदि (किष्किंधा) के राजा जम्बकेश्वर के यहाँ कोषाध्यक्ष और मंत्रीपद पर रहे। बाद को दिल्लीश्वर की आज्ञा से ख़ुद ही राजा बन बैठे। इसके बाद इन्होंने चन्द्रगिरि, पेनुगोंडा आदि राज्यों को जीता और विद्यानगर को राजधानी बनाकर अपने को सम्राट् घोषित किया। फिर विजयों का ताँता लग गया और विद्यानगर 'विजयनगर' बन गया। उसके साम्राज्य का विस्तार-क्षेत्र कच्छ से कन्याकुमारी तक तथा पश्चिम-समुद्र से पूर्व-समुद्र तक फैल गया। ऐसे ही साम्राज्य के सम्राट् बुक्कराय को वेदों का भाष्य समर्पित किया गया। यहीं से तेलगू-कन्नड़-साहित्य-वल्लो की जड़ में अमृत सींचा गया। यहीं की गलियों में कविता, कला और संगीत का गौरव बढ़ा था। यहीं के बाज़ारों में हीरे और जवाहर धान और बाजरे की तरह बिकते थे। इसी साम्राज्य से ईरान, मिस्र और पुर्तगाल के अधिपति मित्रता जोड़कर धन्य हुए थे। यहीं वह शक्ति पैदा हुई थी जिसने शताब्दियों तक मुसलमानी शक्ति की बाढ़ को विन्ध्य पार करने से रोका था। यहीं का जंगल-पहाड़ों वाला स्थान सात भीमकाय प्राचीरों से घेरा जाकर महान् नगर बना था, जो मीलों लम्बा-चौड़ा था तथा जहाँ योरप और एशिया के व्यापारी निश्चिन्त होकर बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार करते थे। यहीं वह साम्राज्य है जो नष्ट होते होते भी महाराष्ट्र-साम्राज्य स्थापित करने की प्रेरणा समर्थ रामदास और शिवाजी को देता गया। और इसी साम्राज्य के अंतिम शासक की कृपा से १६३९ ईसवी में मदरास नगर

में सेंट जार्ज क़िला बनाने की अनुमति 'ईस्ट-इंडिया कम्पनी, को मिली थी।

सन् १४४३ में फ़ारस के बादशाह शाह अर्ज़ ने अब्दुर्रज्ज़ाक नामक दूत को देवराय (द्वितीय) के दरबार में विजयनगर भेजा था। उस दूत ने तत्कालीन विजयनगर का वर्णन किया है। कृष्णदेवराय के जन्म के पहले की बात है। उसी का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"मैं सन् १४४२ के चैत के अन्त में विजयनगर पहुँचा। सम्राट् ने मेरा बड़ा स्वागत किया और एक सुन्दर महल में ठहराया।

यहाँ का राजा बड़ा बलवान् और प्रतापी है। इसका राज्य सिंहलद्वीप से लेकर गुलबर्गा तक फैला है। सारे देश में बहुत बढ़िया ढंग से कृषि होती है। देश-देशान्तर के व्यापारी समुद्र-मार्ग से आकर व्यापार करते हैं। उनकी सुविधा के वास्ते तीन सौ के क़रीब बन्दरगाह बने हुए हैं।

" ऐसा वैभवशाली नगर हमें संसार में कहीं न मिलेगा। सात चहारदीवारियों के अन्दर घिरा हुआ यह शहर बड़ा दुर्गम बन गया है। सातवें प्राचीर के बाहर ५० गज़ चौड़ा ख़ाली मैदान है। उसमें बर्छी की तीक्ष्ण नोक के समान नोकवाले पत्थर सटा-सटा कर गाड़ दिये गये हैं। इसलिए कोई भी पैदल या घुड़सवार सेना उस पचास गज़ को पार कर दीवार तक नहीं आ सकती है।

"………पहली और दूसरी चहारदीवारी के (बाहर से) बीच में बहुत ही सुन्दर बग़ीचे फलफूलों से लदे हैं। बीच-बीच में कूप और तालाब हैं। फिर अन्दर की सातवीं चहारदीवारी के अन्दर तक नगरवासियों के घर, चौड़ी-चौड़ी सड़कें, दूकानें वगैरह हैं। इसमें बीच-बीच में बग़ीचे वग़ैरह भी हैं। सबके केन्द्र में सम्राट् के भवन, कचहरी, सभा-मंडप वग़ैरह हैं। यहीं चारों तरफ़ से रास्ते आकर मिलते हैं।……यहाँ रत्नों के व्यापारी हीरे-जवाहरों के ढेर लगाकर प्रधान राजमार्गों पर निर्भय होकर बेचा करते हैं। अत्यन्त सुन्दर ढंग

से चिकने पत्थरों की नालियों-द्वारा नगर में सब जगह स्वच्छ पानी पहुँचाया जाता है।

"सम्राट् के ख़ज़ाने में धन रखने के लिए बहुत-से बड़े-बड़े तहखाने बने हैं। उनमें चाँदी और सोने की ईंटें बनाकर रक्खी जाती हैं। यहाँ के पुरुष, स्त्री, बच्चे, ग़रीब—यहाँ तक कि बाज़ारों में तमाशा दिखाने वाले नट और बाजीगर भी हाथ में, गले में, पैर में—रत्न-खचित अमूल्य गहने पहनते हैं।"

सन् १५२० में कृष्णदेवराय के समय में पुर्तगाल के राजा का दूत 'फेगरीडी' आया था। उसके साथ ही 'पेयस' नामक एक आदमी भी आया था। वह विजयनगर में वर्षों रहा था। उसने तत्कालीन विजयनगर का सामाजिक तथा राजनैतिक वर्णन विस्तार के साथ किया है। इस ईसाई यात्री के वर्णन का भी थोड़ा-सा अंश यहाँ दिया जाता है—

"कृष्णा नदी के दक्षिण का सारा हिन्दुस्तान इस राज्य के अन्तर्गत है। इधर कटक तक, उधर बीजापुर तक इस सम्राट् (कृष्णदेवराय) ने विजय पाई है। इस सम्राट् ने कभी पराजय का अनुभव नहीं किया। इस राजा के पास १० लाख सेना युद्ध के लिए सदा तैयार रहती है, जिसमें ३५ हज़ार कवचधारी घुड़सवार हैं।

"......सम्राट् कृष्णदेवराय न बहुत लम्बे हैं, न नाटे। साधारण डील-डौल है। मुख पर तेजस्विता और सुन्दरता है। बदन मज़बूत है। मुख पर चेचक के दाग़ हैं। सम्राट् को एक बार देखने से उनके प्रति पूज्य भाव उत्पन्न होता है। शरीर को मज़बूत और युद्ध के लायक़ रखने के लिए वे नित्य तरह-तरह की कसरतों का अभ्यास किया करते हैं।"

इन वर्णनों से विजयनगर और उसके वैभव का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।

विजयनगर की स्थापना चौदहवीं शताब्दी के मध्य में हुई और १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यह साम्राज्य भारतवर्ष की एक

महान् संगठित शक्तियों में गिना जाने लगा। १६वीं शताब्दी के प्रथम चरण में (१५०९ से १५३० ईसवी तक) इसका उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुँच गया जब श्रीकृष्णदेवराय सम्राट् थे। कृष्णदेवराय के बाद घर में फूट पैदा हुई। कृष्णदेवराय के दामाद रामराजु ने आखिरी प्रयत्न किया। पर बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर आदि बहमनी सल्तनत के पाँचों हिस्सेदारों ने मिलकर सन् १५६५ में तल्लिकोटा के मैदान में विजयनगर की शक्ति का ध्वंस कर दिया।

आज भी वह विजयनगर है, आज भी वे चोटियाँ, वह नदी और वह प्रकृति ज्यों की त्यों है, परन्तु जिस विजयनगर का आँखों-देखा वर्णन मैं अभी पाठकों के सम्मुख रखने जा रहा हूँ वह उस विजय-नगर की समाधिमात्र है। अभी-अभी इस साम्राज्य का षष्ठ शताब्दी-उत्सव समारोह से मनाया गया है। मैसूर की सरकार ने उक्त अवसर पर एक स्मारक बनवाकर उसके खँडहरों में स्थापित किया है।

मद्रास-सेंट्रल-स्टेशन से बम्बई जानेवाली गाड़ियाँ गुटकल-जंकशन में रुकती हैं। वहाँ छोटी-बड़ी लाइनों का मिलाप होता है। बड़ी लाइन बम्बई जाती है। छोटी बड़ी को पार कर मार्मोगोआ और पूना जाती है। इसी छोटी लाइन में बल्लारी के बाद, कुछ स्टेशन पार करने के बाद, 'हास्पेट' स्टेशन आता है। यहीं से उतरकर लोग विजयनगर जाते हैं।

हास्पेट से विजयनगर आठ मील पूरब है। विजयनगर को लोग 'हम्पी' कहते हैं। विजयनगर नाम भी विस्मृति में विलीन हो रहा है। हम्पी एक छोटा-सा गाँव है—उन्हीं खँडहरों के पास। कुछ लोगों का कहना है कि पम्पा का अपभ्रंश कन्नड़ रूप हम्पी है, क्योंकि कन्नड़-वाले 'प' का उच्चारण 'ह' जैसा करते हैं। विजयनगर सात प्राचीरों से घिरा हुआ था। पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह 'हास्पेट'—उस समय का 'मंगलापुर'—सबसे आखिरी प्राचीर के अन्दर था। इसे कृष्णदेवराय ने 'मंगला' नामक अपनी वेश्या के नाम पर बसाया था। यहाँ अब उस सातवें प्राचीर का कोई चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। यहीं

विजयनगर का पश्चिमी सिंहद्वार था, जिससे होकर पुर्तगाल, मिस्र, अरब, ईरान के व्यापारी यहाँ आते थे।

रेलवे-लाइन पार कर कुछ ही फ़र्लांग गये थे कि एक छोटा-सा गाँव और उसमें एक विशाल मन्दिर मिला। इस मन्दिर में कोई मूर्ति नहीं है। एक बड़ा-सा धनुषाकार गुम्बद ईंट और गारे से बना है, जिसमें एक भी लकड़ी या लोहा नहीं लगा है। आश्चर्य है कि यह टिका कैसे है! मन्दिर से सटे हुए ग़रीबों के झोंपड़े आज का वैभव दिखा रहे हैं।

चार-पाँच मील चलने पर पर्वत और उन पर के खँडहर स्पष्ट देख पड़ने लगे। रास्ता अच्छा है। छायादार पक्की सड़क है। एक छोटा-सा गाँव और उसमें एक मन्दिर मिला। जब हम एक मील की दूरी पर रह गये तब बग़ीचों की बहार दिखाई पड़ने लगी। बस, कुछ मिनटों में ही हम पहुँच गये। चढ़ाई आ गई। घोड़े ने जवाब दे दिया। यहाँ से पैदल ही घूम-घूमकर वहाँ के भग्न-मन्दिरों का आर्तनाद सुनने लगे। यह विजयनगर का उत्तरी भाग है। यह भाग दक्षिणी भाग से ऊँचा है और मन्दिरों से भरा है। सब प्रसिद्ध मन्दिर यहीं हैं। पर पूजा-अर्चा कहीं नहीं होती। बहुतों में प्रतिमायें भी नहीं हैं। प्रायः सभी मन्दिरों की सुन्दर कारीगरी और भव्य प्रतिमाएँ भग्नावस्था में हैं। इन दर्जनों मन्दिरों में सिर्फ़ एक 'विरूपाक्ष स्वामी' या 'पंपापति' के मन्दिर में ही नित्य पूजा-अर्चा होती है। यह शिथिल और जीर्ण होने से भी बचा है। इन खँडहरों में यहीं जन-समूह देख पड़ता है। चावल-दाल की दो छोटी छोटी दूकानें भी हैं। यह मन्दिर विजयनगर से भी पहले का है। पता नहीं इसका निर्माण कब हुआ! इस मन्दिर का पूर्वीय गोपुर सबसे ऊँचा, दुरुस्त और सुन्दर कलाकृतियों से पूर्ण है। इसे श्रीकृष्णदेवराय ने अपने किसी विजयोपलक्ष में बनवाया था। यह भी ईंट और चूने से बना है। शहतीर या कड़ी का कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। मन्दिर के भीतर बड़ा प्रांगण है। मंडप तो कला-मंडप ही है। उसके खंभों में तत्कालीन कला की सुन्दर प्रदर्शनी है। इसी मन्दिर के सामने क़रीब तीन फ़र्लांग लम्बी और

४० गज चौड़ी सड़क है। दोनों तरफ़ पत्थर के खंभों पर पत्थर के ही ओसारे गिराये गये हैं। अब ये कहीं-कहीं जीर्ण होकर गिर रहे हैं। अनुमान होता है कि इसमें बाज़ार लगता रहा होगा। इसी सड़क पर मन्दिरवाला पत्थर का रथ भी चलता रहा होगा। उस भीमकाय रथ के वास्ते ऐसी ही सड़क चाहिए। उस रथ की कारीगरी देखने लायक़ है। सड़क के सामने एक बड़ा बे-डौल नन्दी है।

यह सब देखकर हम 'पंपा' में स्नान करने गये। यह ठीक मन्दिर के नीचे ही अहर्निश अपना कलकल नाद विरूपाक्ष-स्वामी को सुनाया करती है। दोनों तरफ़ पहाड़ियाँ हैं। तुङ्गभद्रा उनको चीरकर आगे निकल जाती है। यहाँ का दृश्य बहुत ही सुन्दर है। धारा बहुत तेज़ है। यहाँ नाव भी नहीं चल सकती; क्योंकि चट्टानों से टकरा जाना निश्चित-सा है। इसलिए भीतर बाँस की फट्टियाँ डालकर उसे चमड़े से मढ़कर गोल-गोल नाव बनाकर चलाते हैं। स्नान और जल-पान से छुट्टी पाकर फिर घूमने निकले। आगे बढ़े। गणेश की एक मूर्ति देखी। इतनी बड़ी मूर्ति! न मालूम मूर्तिकार में कितना धीरज था। सारे के सारे शिखर को ही छील-काट कर उसने उसे गणेश में परिणत कर डाला है। विरूपाक्ष के मन्दिर के दाहिनी ओर हेमकूट-शिखर पर जैन-मन्दिर हैं। वहाँ से कई सुन्दर मन्दिरों को देखते, झाड़ियों को पार करते हुए, हम मालवंत पर्वत पर चढ़ने को जाने लगे। इस जगह मन्दिरों का एक दूसरा समूह है। उसके बाद धान के लम्बे-लम्बे खेत देख पड़े। धान कट गये थे, किसान खलिहान में काम कर रहे थे। उन खेतों को ग़ौर से देखने पर मालूम पड़ा कि ये खेत किसी दिन राजमार्ग रहे होंगे। यहीं वेश्या-वाटिका का वह मार्ग था जिसका वर्णन यात्रियों ने बड़े कुतूहल से किया है। 'पेयस' ने लिखा है कि यह नगर का सबसे सुन्दर भाग है। सुन्दर सुन्दर वाटिकाएँ और लता-गुल्म तथा शेर-चीते आदि की मूर्तियाँ इस भाग को रमणीय बनाये रहती हैं। आज वहाँ सजीव चीते और सियार फिरते हैं, धान के खेत लहराते हैं!

उसके बाद कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर हम मालवंत-पर्वत की चोटी

पर पहुँचे। कोई भी ऐसा दर्शक न होगा जो इस चोटी से विजयनगर को देखे और हृदय में दो-चार आहें न भरे।

मालवंत-पर्वत की चोटी पर जहाँ हम खड़े थे, कुछ मकान हैं। ये सराय की तरह हैं। दीवारों पर अब भी सफ़ेदी है। उस सफ़ेदी पर काले काले अक्षरों में बहुत-से नाम और तारीखें सो भी नाना लिपियों में—अंकित हैं। ये नाम उन कोलम्बस-सदृश वीरों के हैं जो तीन-चार सौ सीढ़ियाँ चढ़कर यहाँ आये हैं और अपने को अमर करने की अभिलाषा से दीवार काली कर गये हैं। वहाँ से उतरकर छोटी-छोटी नालियों को पार करते हुए तथा उनके शीतल जल से उष्ण मस्तिष्क को ठंडा करते हुए आगे बढ़े। ये नालियाँ विजयनगर से सम्बन्ध रखती हैं। कुछ दूर पर 'भयंकर नरसिंह-मूर्ति' को देखा, जिसे श्री कृष्णदेवराय ने बनवाया था। मुसलमानों ने उसकी भयंकरता और भी बढ़ा दी है। उसके पास ही एक शिवलिंग है। उसकी मुटाई का घेरा ही कई गज़ होगा। नीचे अब भी 'उन्हीं नालियों' से पानी आकर जमा होता रहता है और महादेव को ठंडा रखता है।

यहाँ से फिर हम गाड़ी पर चढ़े। ढालू होने के कारण गाड़ी ही घोड़े को ढकेलती जा रही थी। थोड़ी देर में हम विजयनगर के केन्द्र में पहुँच गये, यहीं अन्तःपुर, टकसाल, गजशाला, महानवमी का मंडप, पद्म-निवास महल वग़ैरह अब भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। इसी स्थान पर हज़ारों बार संधि-विग्रह हुए होंगे। यहीं दर्जनों सम्राटों का अभिषेक हुआ होगा। यहीं लाखों उत्सव मनाये गये होंगे। हज़ारों बार दिवाली, सैकड़ों बार वसंतोत्सव का समारोह हुआ होगा। 'महानवमी-मंडप' पर होनेवाले जलसों का 'पेयस' ने कई पृष्ठों में मनोरंजक वर्णन किया है। यह मंडप बहुत ऊँचा है। ऊपर खुला हुआ है। काफ़ी जगह है। सीढ़ियों में सुन्दर कारीगरी के चित्र हैं। ज़नाना-महल शिथिल पड़े हैं। हाँ, दोनों ओर दो गुम्बद ज़रूर खड़े रह सके हैं। गजशाला ज्यों की त्यों है। उसमें विशालता की अपेक्षा कारीगरी कम है। 'पद्म-निवास' (यह आधुनिक यात्रियों का

रक्खा नाम है) ऐसा भवन है, जो अब भी बचा हुआ है। यह कमल के आकार का दुमंज़िला महल है। सब जगह तो इसमें भी महीन काम नहीं है, पर बनावट बहुत ही सुन्दर है। मालूम पड़ता है, इस महल के बनानेवाले का उद्देश जैन और मुसलमानी स्थापत्य का एक सम्मिलित सुन्दर नमूना रखना था। 'हजाराराम-देवालय' की कारीगरी और शिल्प बहुत ही भव्य है। यह मन्दिर अन्तःपुर-वासिनियों के वास्ते ख़ासकर अन्तःपुर में बनाया गया था। पर आज यह ख़ुद उल्लुओं, चमगीदड़ों और सियारों का अन्तःपुर हो रहा है।

पास ही एक मस्जिद—सब तरह से दुरुस्त—दिखाई पड़ी। आश्चर्य हुआ कि हिन्दू-धर्म को मुसलमानों के हाथ से बचाने के लिए स्थापित हिन्दू साम्राज्य के मुख्य नगर के हृत्-प्रदेश में यह मस्जिद कैसी ? पर इतिहास बताता है कि विजयनगर के पतन का बहुत कुछ सम्बन्ध इस मस्जिद के साथ जुड़ा हुआ है। प्रारम्भिक सम्राटों में तो वह कट्टरता रही, पर बाद में तो किसी तरह साम्राज्य की रक्षा करना ही धर्म हो गया। और इसके वास्ते पराक्रमी मुसलमान बादशाहों में से कुछ को फोड़कर अपने में मिलाये रखना आवश्यक था। और उन्हीं मित्रों की ख़ातिरदारी के वास्ते इस मस्जिद का निर्माण हुआ। एक सुल्तान में और आख़िरी सम्राट् रामराज में तो बाप-बेटे का रिश्ता जोड़ा गया था, जिससे वह विजयनगर का पक्षपाती बना रहे। कहते हैं कि वह सुल्तान अन्तःपुर में भी बेरोक-टोक आया-जाया करता था। पर वही सम्बन्ध विजयनगर के सर्वनाश का कारण बना।

सूर्यास्त हो रहा था। गाड़ीवान भी जल्दी में था और हम भी। आगे बढ़े। पूर्व-यात्रियों-द्वारा वर्णित पानी के पम्प दिखाई पड़े। इन्हीं पम्पों-द्वारा महलों और तालाबों में पानी पहुँचाया जाता था। ये पत्थर के बने पम्प, या छोटी नाली कहिए, अब भी यत्र-तत्र खड़े हैं। मालूम नहीं, इन नालियों में पानी आता कैसे था। आगे बढ़ते ही रानियों का स्नानागार आया। बड़ा ही सुन्दर महल है। महल के बीच में कुंड है। गहराई भी क़रीब ५ फ़ुट होगी। उन्हीं पम्पों-द्वारा इसमें पानी भरा जाता रहा होगा। यह मकान भी अब तक सुरक्षितावस्था में है।

और कितने ही मन्दिर और महल देखे। उनकी शिल्पकला और कारीगरी देखी। एक नाँद देखा, जो क़रीब ४२ .फ़ुट लम्बा, ३ .फ़ुट चौड़ा और २ .फ़ुट गहरा था। कहीं जोड़-जाड़ नहीं। एक पत्थर का बना हुआ है। कहते हैं, यह दरबार में आनेवाले लोगों के हाथी-घोड़ों को पानी पाने के वास्ते था। उसी तरह करीब १०-११ .फ़ुट ऊँचा और २ .फ़ुट चौड़ा किवाड़ का एक पल्ला भी देखो। उस पर की कारीगरी भी अच्छी है। किवाड़ पर के काँटे भी हू-ब-हू पत्थर के ही बने हैं। यह सारा किवाड़ भी एक ही पत्थर का है।

इस तरह सारा विजयनगर-खँडहर देखने पर मन में विचार आया कि विजयनगर के राजा और नागरिक बड़े कला-प्रेमी और कुछ अंशों में उससे बढ़कर आराम-तलब रहे होंगे। क्योंकि सारे नगर में आराम और चैन के इंतज़ाम ही अधिक दीखते हैं। यिजयनगर की शिल्प-कला बौद्धकालीन शिल्प तक नहीं पहुँची है, जहाँ कला जीवनमय और कवित्वमय हो उठती है। अजन्ता और कोनार्क का शिल्प विजयनगर में नहीं है। गणेश, नन्दी, शिवलिंग, पत्थरवाला नाद, किवाड़ आदि में बारीकी की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना उपयोगिता और विशालता की ओर। इसका एक कारण यहाँ के पत्थरों का शायद उस बारीक काम के लायक़ न होना भी हो सकता है। फिर भी 'हजारा रामस्वामी', 'विट्ठलस्वामी' तथा 'श्रीकृष्ण मन्दिर', 'विरूपाक्षा-मन्दिर का मंडप', पत्थर का रथ आदि पर के शिल्प विजयनगर के शिल्प को बहुत ऊँची श्रेणी में प्रतिष्ठित करते हैं। हम विजयनगर में आधुनिक नगर,निर्माण और आदर्श म्युनिसिपलिटी की आरंभिक रूप देख सकते हैं।

चाँदनी फैल रही थी। हम भी गाड़ी पर चढ़े और विजयनगर के निष्प्राण शरीर पर अंतिम दृष्टिपात करते हुए आगे बढ़े। हमने बहुत जल्दी में सारा विजयनगर देखा था, इसलिए एक बार फिर आकर अच्छी तरह देखने की लालसा अधिक बलवती हो गई।

—व्रजनन्दन शर्मा

मेरी मैसूर-यात्रा

भारत की रियासतों में मैसूर का बहुत बड़ा नाम है। पर इसका यह नाम इसके भारी क्षेत्रफल या ऐतिहासिक महत्त्व या धन-दौलत के कारण नहीं है। यह तो इसके सुन्दर शासन और इसकी प्राकृतिक और कृत्रिम सुन्दरता के कारण है। यह रियासत भारत के दक्षिण में पश्चिमी अरब-सागर से लगभग सवा सौ मील की दूरी पर स्थित है। इसके पश्चिम में मलाबार, उत्तर में कर्नाटक, पूर्व और दक्षिण में तामिल नाड, मदरास के ज़िले हैं। इसका क्षेत्रफल २९,३२६ वर्ग-मील है। जनसंख्या ६५,५७,३०२ है।

मैसूर-रियासत में वर्षा बहुत होती है, इस कारण वहाँ हरियाली अधिक है। जितनी दूर तक दृष्टि जाती है, हरा ही हरा नज़ारा देख पड़ता है। नारियल, सुपारी और खजूर के लम्बे-लम्बे पेड़, टीक, आमलीम और संदल के वृक्ष, स्थान-स्थान पर बाँसों के घन झुंड अत्यन्त शोभा देते हैं। मिट्टी वहाँ की लाल है, इसलिए सड़कें सब लाल-लाल दिखाई देती हैं। शहरों व गाँवों में अधिकतर मकानों और झोपड़ियों पर खपरों की छतें डालते हैं। इसलिए यह लाल और हरे का मिलाप बहुत ही सुन्दर लगता है। फिर छोटी-बड़ी पहाड़ियों की मनोरम माला, ऊँची पहाड़ियों पर से नीची धरती का नक़शा जिसमें झीलें, तालाब और नदी-नालों का निर्मल स्वच्छ जल शीशे की तरह चमकता है जो अत्यन्त चित्ताकर्षक होता है। मैसूर नगर चामुण्डी पहाड़ी के नीचे बसा है। यह छोटी पहाड़ी समुद्र-तल से ३००० फ़ुट से कुछ अधिक ऊँची होगी। इसकी चोटी पर से नीचे का दृश्य बहुत अद्भुत दिखाई देता है। नगर की विशाल इमारतें, नदी-नालों की बलखाती हुई जलधारायें और स्थान-स्थान पर अनेक झीलों और तालों का चमकता हुआ पानी ऐसा सुन्दर लगता है कि उस पर से आँख हटाने को मन नहीं होता।

इसी तरह बँगलौर से ३० मील के फ़ासिले पर नन्दी पहाड़ है। यह भी समुद्र-तल से कोई ४०० फ़ुट ऊँचा होगा। बहुधा लोग गर्मी

के मौसम में वायु-परिवर्तन के लिए यहाँ जाते हैं। यह भी एक छोटी सी पहाड़ी है, जो इर्द-गिर्द की हमवार धरती में से एकबारगी इस प्रकार ऊँची निकल आई है, मानो धरती फाड़कर भूकम्प से ऊपर आ गई हो। इसकी चोटी से भी चारों ओर का दृश्य बहुत मनोहर दीखता है। दूर-दूर तक नीचे के गाँव और नगर दिखाई देते हैं। यहाँ से लगभग १०० झीलें और ताल दिखाई देते हैं। मैसूर के पर्वत हिमालय के समान ऊँचे और विशाल नहीं हैं। हिमालय के गगन-चुम्बी पर्वतों और ऊँचे ऊँचे शृंगों को देखकर मनुष्य आनन्दमय आश्चर्य और भय से मूकवत् बन जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् अपने विराट् रूप का इस लोक में इसी झाँकी में दर्शन दे रहे हैं। मनुष्य को अपनी तुच्छता और लघुता का अनुभव होने लगता है। उन गगनभेदी चोटियों के सम्मुख बड़े-से-बड़ा और बलवान् से बलवान् मनुष्य भी एक छोटी चींटी के समान भासित होता है। ऐसा जान पड़ता है, मानों ये ऊँची चोटियाँ और गहरी घाटियाँ किसी दूसरे ही लोक का दृश्य दिखा रही हैं। लेकिन मैसूर की छोटी-छोटी हरे घास और जड़ी-बूटियों से लदी हुई पहाड़ियों को देखकर मनुष्य उनके साथ एक प्रकार का सम्बन्ध अनुभव करता है। ऐसा जान पड़ता है कि हम और वे एक ही लोक के हैं। उन्हें देखकर भय नहीं लगता, न दूसरी दुनिया की याद आती है। उनके सुन्दर दृश्यों को देखकर मन प्रसन्न होता है, चित्त प्रफुल्लित होता है, हृदय कहता है, प्रकृति की यह सब सुन्दरता हमारे लिए है। हम इसको भोग सकते हैं, इससे सुख उठा सकते हैं। पश्चिमी घाट का एक बड़ा भाग भी इस रियासत में है। इन घाटों में घने घने जङ्गल हैं; पर वे भी डरावने नहीं, सुहावने ही मालूम होते हैं।

यहाँ छोटी-बड़ी अनेक नदियाँ भी हैं, जिनमें सबसे बड़ी कावेरी नदी है। मैसूर से १२ मील के फ़ासिले पर कावेरी का पानी, एक बड़ा बन्द बनाकर, आबपाशी के लिए रोक दिया है। इस बन्द का नाम 'कृष्णराज सागर डैम' है। साधारणतया इसे कनमबाडी डैम, अर्थात् बन्द भी कहते हैं। कनमबाडी वहीं पास के एक गाँव का

नाम है, इसी से बन्द को भी 'कनमबाडो' कहने लगे हैं। यह बन्द संसार के बड़े से बड़े बन्दों में से है और इंजीनियरिंग कला का एक अद्भुत नमूना है। यह १¾ मील लम्बा है। इसके बनने में १६ वर्ष और साढ़े तीन करोड़ रुपया खर्च हुआ है। इसमे कई नहरें निकाली गई हैं, जिनके कारण खेतों की उपज बढ़कर किसानों और सरकार की आमदनी बढ़ गई है। १,२५,००० एकड़ ज़मीन जो पहले सूखी पड़ी थी, इस बन्द के पानी से खेती के काम में आ रही है।

जहाँ पर बन्द से कावेरी नदी का पानी रोका गया है, वहाँ का दृश्य बहुत ही रमणीक है। बन्द के एक ओर तो समुद्र के समान अथाह पानी की विशाल झील-सी दिखाई देती है और दूसरी ओर छोटी-सी नदी बह रही है, जिसका पानी बन्द के झरनों में से निकल कर आता है। किन्तु जिस चीज़ ने यहाँ की शोभा को अनोखा और निराला बना दिया है वह वहाँ का 'वृन्दावन-बाग़' है। बन्द से नीचे उतरकर नदी के तट पर दोनों ओर मुग़लों के निशात और शालामार नाम के बाग़ों के नमूने पर यह बहुत बड़ा बाग़ बनाया गया है। इसमें नहरें, नहरों में भिन्न भिन्न आकार-प्रकार के फ़ौवारे हैं। नहरों के बीच में पक्की रविश है। रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियाँ और छोटे बड़े सुन्दर वृक्ष लगे हुए हैं। हफ्ते में दो दिन शनिवार और रविवार को रङ्ग-बिरङ्गी बिजली के लैम्पों से ये सब फ़ौवारे रोशन किये जाते हैं। उत्सवों के अवसर पर बाग़ के चारों ओर की बारहदरियों में बिजली की दीपमाला-सी जगमगा दी जाती है। उस समय का दृश्य अनुपम होता है। संसार भर में घूम-फिर कर भी मैंने कहीं ऐसा मनोरम दृश्य नहीं देखा। पेरिस में एक बार फ़्रांस के उपनिवेशों की एक बड़ी भारी प्रदर्शनी हुई थी। वहाँ मैंने केवल एक बार इस प्रकार का बिजली से रँगा हुआ फ़ौवारा देखा था। पर मैसूर के 'वृन्दावन' में तो सारा बाग़ ही इन फ़ौवारों से सुशोभित है। नीले, पीले, हरे, सफ़ेद, बैंजनी और कई दूसरे रङ्गों से सुसज्जित विविध आकार के इन झरनों और फौवारों की शोभा देखते ही बनती है। फौवारों में से निकलते हुए जलबिंदु और जलधारायें आपस में झगड़ती, खेलती,

भिड़ती, टकराती हुई नहरों में आ गिरती हैं और पास की रविशों पर टहलते हुए दर्शकों को भिगो देती है। वहाँ के सुहावने मौसम में घूमने-फिरने वालों को यह भीगना भी अच्छा ही लगता है। भूमण्डल के इस परिस्तान में घूमते ही बन्द की ऊँची दीवार पर एक ताक दिखाई देता है। उस ताक में काले पत्थर की कावेरीदेवी की एक सुन्दर मूर्ति स्थापित है। उस पर हमेशा बिजली की रोशनी डाली जाती है, जिससे वह चमकती रहती है। इस सुन्दर मूर्ति पर झरने से निरन्तर जल की वर्षा होती रहती है और उसके गले में सुगन्धित पुष्पों का हार पड़ा रहता है। मुग़ल सम्राटों के किसी भी शालामार अथवा निशात बाग़ की शोभा सहस्रों दीपकों के जलाने पर भी कभी ऐसी सुन्दर न होगी जैसी मैसूर के वृन्दावन की शोभा है। इसके देखने के लिए लोग दूर-दूर से आते हैं। सर अकबर हैदरी जब वहाँ गये तब मुग़लसम्राट् शाहजहाँ के बनाये हुए दिल्ली के क़िले पर खुदे हुए इस शेर को कि—

'अगर फ़िरदौस बररूए ज़मींनस्त,
हमीं नस्तो, हमीं नस्तो, हमीं नस्त।'

दर्शकों की पुस्तक में लिख दिया। ये शब्द दिल्ली के क़िले पर लागू होते थे या नहीं सो तो मैं नहीं कह सकती, पर इतना अवश्य कहूँगी कि मैसूर का वृन्दावन सचमुच नन्दन-कानन है।

यही कावेरी नदी कुछ मील आगे चलकर एक प्रपात के रूप में दिखाई देती है। यहाँ इसे शिवसमुद्रम् का नाम दिया गया है। यह स्थान भी बड़ा रमणीक है। इस जल-प्रपात से मैसूर-सरकार ने बहुत बड़ा काम लिया है। इससे बिजली बनाई जाती है। सरकार का लगभग एक करोड़ रुपया इस बिजली-घर पर ख़र्च हुआ है, मगर इससे कई गुनी आमदनी सरकार को इस कारख़ाने से हो चुकी है। मैसूर की औद्योगिक उन्नति और शोभा सब इस बिजली के कारख़ाने से है। नये-नये कारख़ाने रोज़ इसी बिजली के ज़ोर पर खोले जा रहे हैं। बँगलौर और मैसूर के शहरों, सड़कों और बाग़ों में इस बहुतायत से बिजली की रोशनी की जाती है कि रोशनी का बाग़-सा लगा हुआ जान पड़ता है। लम्बी-लम्बी सड़कें और

बड़े-बड़े विशाल बाग़ बिजली की सहस्रों बत्तियों से नित्य जगमगाते रहते हैं। चामुण्डी का पर्वत जिसके नीचे मैसूर नगर बसा हुआ है, बिजली की रोशनी से चमका करता है। रियासत के छोटे-छोटे शहरों में भी बिजली की रोशनी फैलती जा रही है। २०० से ऊपर गाँवों में बिजली लग चुकी है, और गाँवों में लगने का प्रबन्ध हो रहा है।

मैसूर के प्राकृतिक दृश्यों में 'जोग' या "गोसप्पा फ़ाल्स" नाम के जल-प्रपात अनुपम और जगत्-प्रसिद्ध हैं। रियासत के उत्तर में शाख नाम की एक छोटी-सी नदी एक छोटे पर्वत पर जिसकी ऊँचाई समुद्र से २००० फ़ुट तक भी नहीं, अपनी यह अद्‌भुत सौन्दर्य-लीला दिखाती है। मैंने ऐसे बड़े और शानदार झरने पहले कभी नहीं देखे थे। इन पर जाने का रास्ता बहुत सुन्दर है। पश्चिमी घाट के ऊँचे-नीचे जङ्गलों में से जो सन्दल, टीक, बाँस और आम, नीम और देवदारु के वृक्षों से पटे पड़े हैं; होकर जाना होता है। झरनों से थोड़ी दूर पहले नदी पार करनी होती है। इस पर पुल नहीं है, नाव से जाना पड़ता है। इस स्थान पर नदी का पानी इतना शान्त है कि जल की गति तक दिखाई नहीं देती। चारों ओर सब्जी से लदे हुए पहाड़ हैं। बीच में नदी बह रही है, जो बिल्कुल झील के समान जान पड़ती है। कौन कह सकता है कि यही छोटी-सी शान्त नदी कुछ गज़ के फ़ासले पर जाकर ऐसा भीषण रूप धारण कर लेगी।

जोग-प्रपात की उँचाई ८२९ फ़ुट है। पहाड़ की चोटी से खड्ड की तह तक ये प्रपात बिलकुल सीधे जाते हैं। तह से ९६० फ़ुट ऊपर तक पर्वत ऐसा सीधा खड़ा है, मानो किसी ने काट कर बराबर की दीवार बना दी हो।

झरने के सामने की पहाड़ी पर एक सरकारी बँगला है, जहाँ दर्शक यात्री आकर ठहरते हैं। बँगले में खाने-पीने और रहने का बहुत अच्छा प्रबन्ध है। मैं यहाँ एक रात ठहरी थी। इस पहाड़ी पर झरने के गिरने का बड़ा तीव्र और भयंकर शब्द निरन्तर सुनाई देता

है। झरनों की तह तक तो मैं गई नहीं, आधे रास्ते तक गई थी। वहाँ से सहस्रों मन जल को चोटी पर से विद्युत् के वेग से धड़ाधड़ गिरते देखकर बड़ा भय लगता है। अगर कोई जीव अभाग्यवश धारा के सामने गिर जाय तो उसकी हड्डी-पसली ऐसी चूर-चूर हो जाय कि पता लगाना भी कठिन हो जाय।

ये झरने पास ही पास एक ही पहाड़ी पर से किन्तु अलग-अलग चार स्थानों पर से बहते हैं। चारों के अलग-अलग नाम हैं। एक को 'राजा', एक को 'कोरर', एक को 'रॉकेट' और एक को 'लेडी ब्लांश' कहते हैं। लेडी ब्लांश बिलकुल सीधा और पतला है। देखने में रेशम के सदृश चिकना दिखाई देता है। सभ्य रमणी के समान बड़ी चटक और शान से बहा चला जाता है। 'राजा' विशाल है और 'रॉकेट' आधे रास्ते पर उथल-पुथल करता उछलता-कूदता अपनी शक्ति दिखाता हुआ चला जाता है। 'कोरर' थोड़ी दूर वेग से जाकर 'लेडी ब्लांश' से मिल जाता है। तीनों मिलकर ऐसा गर्जन करते हैं, मानो हज़ारों शेर दहाड़ रहे हों। इन झरनों को देखकर भगवान् की लीला-शक्ति का स्मरण होता है। पर वहाँ से हटने को दिल नहीं करता।

जैसा सौन्दर्य मैसूर को भगवान् की ओर से मिला है, वैसा ही मैसूरवालों ने उसका शृङ्गार करके उसकी शोभा-सुषमा को बढ़ा रक्खा है। बँगलौर और मैसूर भारत के सबसे सुन्दर नगरों में हैं। बड़ी-बड़ी पक्की सड़कें, रंग-बिरंगे पुष्पों से भरे हुए बाग़ और सुन्दर विशाल इमारतें चारों ओर दिखाई देती हैं। मीलों घूमकर देखने से भी सम्पूर्ण नगर एक भारी बाग़ के समान प्रतीत होता है। बँगलौर के गब्बन पार्क और मैसूर के सरकारी बाग़ के समान ढूँढ़ने से भी भारत में दूसरे बाग़ नहीं मिलेंगे। बड़े-बड़े अस्पताल, होटल, सरकारी, दफ़्तर, राजा के महल और सरकारी मेहमानखाने दोनों नगरों की शोभा बढ़ाते हैं। महाराज का राजमहल बड़े सुन्दर ढङ्ग से बना हुआ है। दशहरे के दस दिनों तक और महाराज की वर्ष-गाँठ के अवसर पर जब महल में रोशनी की जाती है तब वह दृश्य देखने योग्य ही

होता है। बिजली की लाखों बत्तियाँ जलाई जाती हैं और प्रतिवर्ष कई हज़ार रुपये की रोशनी होती है।

महल में कई दरबारहॉल हैं। ख़ास दरबारहॉल जहाँ महाराज का ख़ास दरबार होता है, बड़े ख़र्च से बनाया गया है। गन मेटल के स्तम्भ जिन पर सोने के मुलम्मे की बेलें, छत पर वैसे ही सोने के बेल-बूटे, प्लास्टर आफ़ पेरिस की बनी हुई ऐतिहासिक शूरवीरों की मूर्तियाँ, हाथीदाँत के काम के और चाँदी के दरवाज़े लकड़ी पर बहुत बारीक काम की बनी हुई मेहराबें, कुशल चित्रकारों के बनाये हुए चित्ताकर्षक चित्र दरबारहॉलों और महल के दूसरे कमरों को शोभायमान करते हैं। दरबार में कई चित्रकार नौकर हैं, जो महलों में चित्रकारी का काम किया करते हैं।

मैसूर के महाराज को जानवरों से बड़ा प्रेम है। मैसूर में बड़ा सुन्दर चिड़ियाघर बना हुआ है। यहाँ नाना प्रकार के और नये-नये जानवर हैं। कलकत्ते को छोड़कर, मैं जानती हूँ, भारत भर में और कहीं भी ऐसा चिड़िया-घर नहीं है। बड़ा सुथरा और सुन्दर स्थान है। जानवर महाराज के बड़े लाड़ले हैं। दूध, रोटी, अच्छे-अच्छे मेवे, फल उन्हें खाने को मिलते हैं। जो भोजन वहाँ के मनुष्यों को और जो दूध बालकों को नसीब नहीं होता वह उन जानवरों को मिलता है।

शहरों और गाँवों में भी सफ़ाई बहुत है। सारे सरकारी मकानों की (और शहरों में सरकारी मकान बहुतायत से हैं) हर साल दशहरे से पहले सफ़ेदी होती है। इसी से शहर चमचमाता हुआ साफ़ दिखाई देता है।

रियासत में कई ऐसे पुराने मन्दिर हैं जिनकी शोभा का वर्णन करने के लिए अच्छी ज़ोरदार लेखनी चाहिए। सोमनाथ, बेलूर और हेलेबीद—ये तीन ऐसे मन्दिर हैं, जो भारत की पुरानी स्थापत्य-कला के अनोखे नमूने हैं। संगतराशी की कला में इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

सबसे पहले मैंने बेलुर मन्दिर के दर्शन किये थे। रामेश्वरम्, त्रिचनापली और मथुरा के मन्दिरों के समान यह आकार में उतना बड़ा नहीं है, देखने में छोटा-सा है, पर इसमें कला के जो अद्भुत नमूने दिखाई देते हैं उनका वर्णन करने का मैं साहस नहीं कर सकती। सन् १४३३ में अब्दुर्रज़ाक नाम का एक तुर्की राजदूत इस मन्दिर को देखने आया था। उसने मन्दिर के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि "जो आश्चर्यजनक कलाकौशल-निधि मैंने देखी उसका मैं वर्णन नहीं करूँगा, क्योंकि मैं कितना भी कम लिखूँ तो भी लोग ऐसा ही विचार करेंगे कि मैं बात को बढ़ा रहा हूँ।" बात तो यह है कि जब मैं उस मन्दिर का विचार करती हूँ तब मेरा मन भी यही कहता है कि जो कुछ मैंने देखा उसे लेखबद्ध करने का अनधिकार प्रयत्न नहीं करना चाहिए। मन्दिर के भीतर घुसकर और वहाँ का मनोरम दृश्य देखकर मैं तो स्तम्भित हो अवाक् रह गई। मेरा हृदय आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा। कई घण्टे वहाँ रहने पर भी वहाँ से जाने को मन नहीं होता था। ऐसा जान पड़ता था, मानो सङ्गतराश के हाथ में पत्थर मोम बन गया था, जिसे जैसा मन हुआ वैसा उसने बिना कठिनाई और परिश्रम के ढाल लिया। किसी ने ठीक कहा है कि कारीगर जब इन मूर्तियों और चित्रों को पत्थरों पर तराश रहे होंगे तब वे अवश्य भगवान् की भक्ति और प्रेम में मग्न हो उसकी महिमा के गीत गा रहे होंगे। बिना भक्ति और प्रेम के ऐसी वस्तु बनाना असम्भव है। केवल रुपये के लिए जो लोग काम करते हैं वे कभी ऐसी अद्भुत कला की चीज़ें नहीं बना सकते।

बेलुर, सोमनाथ, हलेबीद—ये तीनों मन्दिर एक ही ढंग के और एक ही काल के बने हैं। इनका निर्माण १२वीं शताब्दी में होसला राजाओं के द्वारा हुआ था। होसला-वंश के ताज में एक शेर बना रहता है, जिसको लाठी से एक नवयुवक मार रहा है। यह राज-चिह्न होसला-कुल की बनाई हुई सब इमारतों में खुदा रहता है। कहा जाता है कि इस कुल को स्थापित करने वाला 'सला' नाम का एक क्षत्रिय था। सन् १०२० ईसवी में सुदाथा नाम के एक ऋषि शशोकपुरी नगर

के वसन्तिका नाम के मन्दिर में रहते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके मठ के सामने से एक सिंह एक खरगोश के पीछे भागा जा रहा है। वहीं उनका 'सला' नाम का क्षत्रिय शिष्य खड़ा हुआ यह तमाशा देख रहा था। ऋषि ने कहा, 'अदम पौसला', जिसका अर्थ है 'सला मारो।' सला ने शेर को मार दिया। जब वह राजा हुआ तब उसने अपने कुल का ताज इसी घटना का चित्र बनाया और कुल का नाम 'पौसला' रक्खा जो पीछे 'होसला' कहलाने लगा।

होसला-कुल के कई राजे बड़े प्रतापी हो गये हैं। शिशुवर्द्धन या वित्तिदेव नाम का एक राजा १२वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। जैनमत को त्याग कर उसने वैष्णव-धर्म ग्रहण किया था और विष्णु भगवान् के कई मन्दिर बनवाये थे। वित्तिदेव विष्णुवर्धन के बनाये हुए इन सब मन्दिरों की विशेष स्थापत्य-कला है और 'होसला-स्थापत्य' के नाम से प्रसिद्ध है। बेलूर का मन्दिर वित्तिदेव का ही बनवाया हुआ है। फाटक में घुसते ही मन्दिर के बाहर वित्तिदेव और उनकी रानी शान्तलादेवी की मूर्तियाँ दिखाई देंगी, जो अब बहुत घिस कर पुरानी हो गई हैं। मन्दिर के भीतर छत और दीवारें, देवी-देवताओं यक्ष-यक्षिकाओं, रामायण-महाभारत की घटनाओं के चित्रों से अङ्कित हैं। यह सब काम पत्थर में खुदा है, परन्तु बारीक-से-बारीक रेखाएँ और छोटी से छोटी नक़्क़ाशियाँ खूब स्पष्टतया दिखाई देती हैं। अंगूर के गुच्छे, बेलें, पत्ते असल के समान दिखाई देते हैं। एक मूर्ति की कलाई में पत्थर की चूड़ी है, जो सच्ची चूड़ी की तरह घूमती है और नाक की राई भर की पत्थर की नथुनी भी हिलती है। मन्दिर के बाहर की दीवारों पर ऊपर की ओर चारों तरफ़ ब्रैकटों में काले पत्थर की छोटी-छोटी ४० मूर्तियाँ हैं। इनमें से अधिकतर गणिकाओं की हैं। किसी को मधुमक्खी सता रही है, कोई नाच रही है, कोई भिड़ से तङ्ग हो रही है। मन्दिर क्या है, जीवन का एक जीता-जागता चित्र है। उसमें घुस कर किसी को अकेलापन नहीं भास सकता, क्योंकि वहाँ तो हज़ारों साथी मिल जाते हैं।

पुराने स्मारकों में श्रावणबड़गोड़ा की गोमत की मूर्ति भी देखने

के योग्य है। यह जैनों का प्राचीन तीर्थ-स्थान है। यहाँ दूर-दूर से जैनयात्री दर्शन और पूजन के लिए शताब्दियों से आते हैं। स्थान-स्थान पर जो-जो शिला-लेख खुदे हैं उनसे मालूम होता है कि सैकड़ों पुण्यात्मा, धर्मात्मा स्त्री-पुरुषों ने अनशन-व्रत करके (जिसे जैन मतावलम्बी "सल्लेखना" कहते हैं) प्राण त्याग दिये हैं। महाराज चन्द्रगुप्त और राजा वित्तिदेव विष्णुवर्द्धन की प्रिय रानी शान्तलादेवी ने भी इसी प्रकार प्राण त्यागे थे। सन् ६०० ईसवी के खुदे हुए एक शिला-लेख से मालूम होता है कि उस समय तक ७०० ऋषि वहाँ इस प्रकार समाधिस्थ हो चुके थे। उन दिनों दक्षिण में जैनमत प्रचलित था। इस इलाक़े में सहस्रों जैन 'बस्तियों' (अर्थात् विहार जहाँ जैन-मतावलम्बी भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहती थीं) के होने की प्रसिद्धि है। श्रावणबड़गोड़ा में आज भी ऐसी कई बस्तियाँ मौजूद हैं। परन्तु शेष बस्तियों का अब नाम-ही-नाम रह गया है। जैन-मत को इस देश से केवल श्री रामानुजाचार्य ने निकाला। प्रसिद्ध कोलाकुल के राजा करिकला कोला (जो शिव के उपासक थे) के राज्य में कष्ट पाने से आचार्य राजा वित्तिदेव की राजधानी में आ गये। वित्तिदेव जैन थे। रामानुजाचार्य की युक्ति, भक्ति और प्रताप से राजा ने जैन-मत त्याग कर वैष्णव-धर्म ग्रहण किया और तब से उनके राज्य में वैष्णव-मत फैला और विहारों अथवा बस्तियों के स्थान पर अनेक मठ और मन्दिर बन गये। तभी से उन्होंने अपने नाम के आगे 'विष्णुवर्धन' पद जोड़ दिया। सब हुआ, परन्तु रानी शान्तलादेवी ने अपना मत नहीं छोड़ा और जैनों के पवित्र तीर्थस्थान में आकर सच्चे और भक्त जैनों के समान जैन-मतानुसार जैन-रीति-रवाज से 'सल्लेखना'-व्रत करके इस नश्वर देह का त्याग किया। राजा वित्तिदेव को अपनी रानी बहुत प्यारी थी। उन्होंने उसकी पुण्यस्मृति में बहुत से स्मारक बनवाये, जिनमें से कुछ तो अब तक हैं। रानी के अतुल सौन्दर्य, पवित्रता, धर्म और ज्ञान की बातें अब भी पत्थरों पर खुदी हुई मिलती हैं।

श्रावणबड़गोड़ा में आमने-सामने दो पहाड़ियाँ हैं। छोटी पहाड़ी

का नाम चन्द्रगिरि और बड़ी का नाम विंध्यगिरि है। सम्भवतः चन्द्रगिरि नाम इसलिए पड़ा है कि महाराज चन्द्रगुप्त ने इसी पहाड़ी पर समाधिस्थ हो देवलोक को प्रयाण किया था।

चन्द्रगिरि के सामने की पहाड़ी का नाम विंध्यगिरि है। पहाड़ी सूखे स्लेटी पत्थरों की चट्टान है। जिस पर वृक्ष, फूल, बेल, सब्ज़ी कुछ भी नहीं है। कहीं कहीं इक्का-दुक्का छोटा-मोटा वृक्ष निकल आया है, वर्ना अधिकतर हिस्सा केवल पत्थर-ही-पत्थर है। इसी पहाड़ी की चोटी पर जैनों के गोमत भगवान् की मूर्ति है। ६०० सीढ़ियाँ चढ़कर मूर्ति तक पहुँचते हैं। यह मूर्ति संसार की सबसे बड़ी मूर्ति है। ७० या ७१ फुट ऊंचा है। इतनी बड़ी होने पर भी भयावह नहीं है। हाथ, पाँव, बाँहें, टाँगें सारा शरीर ठीक हिसाब से बनाया गया है। अँगुलियों के नाखून और पोर सब अलग-अलग दिखाई देते हैं। सुन्दर शरीर और मुख-मण्डल पर शांति विराजमान है। वस्त्रविहीन ध्यान में लीन जैन मुनि की यह दिगम्बर मूर्ति शताब्दियों से गर्मी, जाड़ा, धूप और बरसात की कठिनाइयों को धैर्य से झेलती हुई ऐसी दीखती है, मानो कल ही कारीगर के हाथ से निकली हो। आयु में बूढ़ी होते हुए भी देखने में जवान है। कहीं से न घिसी है, न पुरानी मालूम देती है। बाँहों और टाँगों पर पत्थर की बेलें बनी हुई हैं, मानो यही उसका वस्त्र है। इस मूर्ति को देखकर शास्त्रों में लिखी हुई वे अनेक घटनायें स्मरण हो आती हैं जिनमें ऋषि-मुनि ध्यान में ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उन पर मिट्टी जम जाती, बेलें चढ़ जातीं, दीमक घर बना लेती, गिलहरियाँ और गिरगिट देह पर घूमते, किन्तु तपस्या-रत ऋषि का ध्यान भङ्ग न होता। गोमत भगवान् भी ऐसे अगाध ध्यान में लीन दिखाई देते हैं। यह गोमत देव कौन थे? जैनों के पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव अथवा आदिनाथ के ये पुत्र माने जाते हैं। इस मूर्ति की स्थापना महाराज के सचिव चामुंडाराय ने ईसवी सन् १०२४ में की थी। पहाड़ों के पत्थरों पर मूर्ति की उत्पत्ति का निम्नलिखित वृत्तान्त खुदा हुआ है—

लगभग ९०० वर्ष हुए, चामुण्डाराय की माता कलालादेवी ने सुना

कि गोमतदेव की २००० फ़ुट की सोने की मूर्ति किसी स्थान पर विद्यमान है। कलालादेवी ने प्रण किया कि जब तक वे इस मूर्ति के दर्शन नहीं करेंगी, अन्न-जल नहीं ग्रहण करेंगी। माता के हठ से विवश हो चामुंडाराय उस स्वर्ण-मूर्ति की खोज में निकले। जब वे श्रावण-बड़गोड़ा पहुँचे तब स्वप्न में ब्रह्मा और पद्मावती ने उन्हें दर्शन दिये और कहा कि देवी-देवताओं के अतिरिक्त वह स्वर्ण-मूर्ति किसी को दृष्टिगोचर नहीं होती। परन्तु यदि चामुंडाराय शुद्ध-हृदय और पवित्र विचारों के साथ चन्द्रगिरि से खड़े होकर विंध्यगिरि की चोटी पर तीर मारेंगे तो भगवान् उन्हें दर्शन देंगे। अतएव चामुंडाराय ने ऐसा ही किया। ज्यों ही तीर पत्थर पर जाकर लगा, पत्थर फट गया और उसमें से भगवान् की मूर्ति का ऊपरी भाग प्रादुर्भूत हुआ। पुरोहित ने सुनार की छोटी-सी नगजड़ित हथौड़ी लेकर पत्थर पर मारना आरम्भ किया। हथौड़ी के एक एक आघात के साथ पत्थर के टुकड़े टूट-टूट कर गिरते गये और अन्दर से सुन्दर उज्ज्वल मूर्ति प्रकट हो गई।

चाहे जो कुछ हुआ हो, परन्तु इतना निश्चय है कि पहाड़ के पत्थरों को काटकर चामुंडाराय ने इस मूर्ति को बनवाया और ३ मार्च १०२८ ईसवी को बड़े समारोह के साथ इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की। इस मूर्ति के पूजन और रक्षा के लिए उन्होंने बहुत-से ग्राम और ज़मीन दान की।

मूर्तिस्थल में घुसने से पहले कुछ दूर पर एक बड़ा रम्य फाटक बना है। इस फाटक के पास ही पहाड़ के पत्थर में खुदी हुई एक कुबड़ी बुढ़िया की छोटी-सी मूर्ति सिंदूर से भरी रहती है, इसके फैले हुए हाथों में एक छोटा-सा कमण्डलु है और दो-चार ताज़े सुगन्धित फूल इस पर आपको हमेशा चढ़े हुए दिखाई देंगे। कोई यात्री इस भद्दी कुरूपा मूर्ति पर अपनी श्रद्धा के चार पुष्प चढ़ाये बिना आगे नहीं जाता। इस मूर्ति की कथा इस प्रकार है—

गोमत की विशाल भीमकाय मूर्ति जब बन कर तैयार हो गई तब चामुंडाराय ने बड़े व्यय और समारोह के साथ उसकी प्रतिष्ठा

का प्रबन्ध किया। अनेक ब्राह्मण, पंडित, राजे-महाराजे निमन्त्रित किये गये। सहस्रों रुपये की सामग्री एकत्र की गई। परन्तु जब मूर्ति पर दूध, घी, जल आदि सामग्री चढ़ाई गई तब कमर तक आकर सब कुछ रुक गया, कुछ भी उससे नीचे नहीं उतरा। पण्डितों के बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई उपाय ऐसा नहीं निकल सका जिससे चढ़ाई हुई पूजन-सामग्री कमर से नीचे उतरे और अभिषेक पूरा हो। तब यह विचार हुआ कि पूजन की विधि में कोई त्रुटि रह गई होगी, उसके कारण गोमतदेव भेंट को अस्वीकार कर रहे हैं। परन्तु ढूँढ़ने पर भी कोई त्रुटि न दिखाई दी। पण्डितों ने कहा कि ऐसा जान पड़ता है कि यह जो कुछ किया गया है, श्रद्धा, प्रेम से नहीं, किन्तु यश-प्राप्ति की लालसा से किया गया है, इसी लिए भगवान् इसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इतने में प्रधान पुरोहित के मन में प्रेरणा हुई और उन्होंने देखा कि दूर कोने में एक कुरूपा, दरिद्र बूढ़ी स्त्री छोटे-से कमण्डलु में दूध लिये खड़ी है। मालूम हुआ कि कई मास से यह अपने प्रेम और श्रद्धा की भेंट—कमण्डलु में पाव भर दूध लिये मूर्ति पर चढ़ाने के लिए खड़ी है। किसी ने उसे भीतर जाने की आज्ञा नहीं दी, इसी से वह इतने दिनों से चुपचाप वहीं खड़ी रही। तब उसका दूध उस मूर्ति पर चढ़ाया गया। जिस भीमकाय मूर्ति के स्नान के लिये मनों दूध, दही, घी और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ पर्याप्त नहीं हुई थीं, वह मूर्ति उस पाव भर दूध से सिर से पाँव तक भीग गई, यहाँ तक कि दूध की धारा बहकर सारी पहाड़ी पर फैल गई और सर्वत्र दूध ही दूध दिखाई पड़ने लगा। यह देखकर चामुंडाराय बूढ़ी विधवा के चरणों पर गिर पड़े, उसे आदर-सत्कार से भीतर ले गये और विधि-विधानपूर्वक मूर्ति का अभिषेक समाप्त हुआ।

मैसूर जानेवालों को अवश्य गोमत की इस मूर्ति के दर्शन करने चाहिये। इसकी शोभा और बड़ाई देखने से ही जानी जा सकती है।

—रामेश्वरी नेहरू

प्रयाग का म्युनिसिपल-म्युज़ियम

शिक्षा-प्रचार के साधनों में म्युज़ियमों या अजायबघरों का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। म्युज़ियमों-द्वारा जनता अपनी ज्ञान-वृद्धि करती है, साथ ही स्वदेश के प्राचीन गौरव की रक्षा में दत्तचित्त होती है। यही नहीं, म्युज़ियमों-द्वारा राष्ट्रीय विचारों के विकास में सहायता मिलती है और लोगों का मनोरंजन भी होता है।

भारतवर्ष में कुल १०५ म्युज़ियम हैं, जो बड़े नगरों में ही स्थित हैं। इनमें से केवल सात म्युज़ियम ऐसे हैं जो म्युनिसिपेलिटियों-द्वारा संचालित हो रहे हैं। बम्बई, कराची, पूना, राजमहेन्द्री, रायपुर और इलाहाबाद के कारपोरेशन और म्युनिसिपल-बोर्ड इस काम को भली भाँति कर रहे हैं। युक्तप्रांत के लिए यह गौरव की बात है कि प्रयाग-म्युनिसिपल-बोर्ड-द्वारा संचालित म्युज़ियम भारतवर्ष के बड़े से बड़े म्युज़ियम की समता कर रहा है। लाखों की सम्पत्ति इस म्युज़ियम के आधीन सुरक्षित है और प्रतिवर्ष इसकी अनवरत गति से वृद्धि होती जा रही है।

बात सन् १९२१ ईसवी की है। उस समय प्रयाग-म्युनिसिपल-बोर्ड के चेयरमैन रायबहादुर बाबू कामताप्रसाद कक्कड़ थे और इक्ज़िक्युटिव आफ़िसर पं० ब्रजमोहन व्यास। बाबू कामताप्रसाद जी की यह इच्छा हुई कि म्युनिसिपेलिटी के अन्तर्गत एक म्युज़ियम की स्थापना की जाय। व्यास जी को यह बात जँच गई और उन्होंने म्युज़ियम के संगठन तथा उसे स्थायी रूप देने का कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया। वे तन-मन-धन और लगन के साथ जुट पड़े। व्यास जी स्वयं पुरातत्त्व, चित्र-कला, प्राचीन मुद्रा और संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ और पण्डित हैं। प्राचीन वस्तुओं के संग्रह में उन्हें स्वाभाविक रुचि और लगन है। इसी लिए इस काम में थोड़े ही समय में उन्हें अच्छी सफलता मिली। सत्रह वर्ष के अल्प समय में उन्होंने म्युज़ियम को ऐसा उन्नत बना दिया है कि उसकी समता किसी भी श्रेष्ठ म्युज़ियम से भली भाँति की जा सकती है। व्यास जी ने अपने

अनवरत उद्योग और अध्यवसाय से ऐसी बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह किया है जिनका मूल्य कई लाख रुपया आँका जाता है। इस समय म्युज़ियम में भिन्न-भिन्न प्रकार की हज़ारों वस्तुएँ एकत्र हैं, जो विषय के अनुसार कई विभागों में विभाजित कर दी गई हैं, जिनमें निम्न विभाग विशेष महत्त्व के हैं—

(१) पुरातत्व-विभाग, (२) चित्रकला-विभाग, (३) प्राचीन मुद्रा-विभाग, (४) हस्तलिपि-विभाग, (५) पंडित जवाहरलाल नेहरू-द्वारा दी गई वस्तु-संग्रह-विभाग, (६) पंडित जयकृष्ण व्यास लाइब्रेरी—संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकों का विभाग, (७) म्युज़ियम लाइब्रेरी, (८) परशियन-अरबिक लाइब्रेरी और (९) जनरल सेक्शन।

म्युज़ियम के इन विभागों की उन्नति बराबर होती जा रही है। अन्य विभागों से पुरातत्त्व-विभाग अधिक उन्नत और सम्पन्न है। चित्रकला, प्राचीन मुद्रा और संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों का विभाग भी अधिक महत्त्व रखता है। इतिहासकारों के लिए प्राचीन सामग्री यहाँ बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध है। यहाँ हम प्रत्येक विभाग का संक्षेप में परिचय देते हैं—

म्युज़ियम के पुरातत्त्व-विभाग में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जितनी वस्तुएँ संगृहीत हैं, युक्तप्रांत तो क्या, भारतवर्ष के प्रसिद्ध म्युज़ियमों में भी कुछ अंशों में नहीं हैं। मूर्तियाँ, शिलालेख, टेराकोटा, प्राचीन सिक्के तथा अन्य कितनी ही मूल्यवान् वस्तुएँ हज़ारों की संख्या में एकत्र की गई हैं। मौर्यकाल से लेकर अब तक जितनी प्रसिद्ध पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध हुई है उसका यहाँ अच्छा संग्रह है। इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौशाम्बी-सम्बन्धी सामग्री है। इसे एकत्र करने में व्यास जी ने जिस अध्यवसाय और साहस का परिचय दिया है वह म्युज़ियम की उन वस्तुओं को देखकर होता है जिनको पुरातत्त्ववेत्ताओं ने बड़ा महत्व दिया है।

कौशाम्बी इलाहाबाद ज़िले की चायल तहसील में दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। इसका दूसरा नाम 'कोसम' भी है। ऐतिहासिक

दृष्टि से यह एक बड़ा प्राचीन नगर है। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व यह वत्सदेश के राजाओं की राजधानी थी। यहाँ के राजाओं में उदयन बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। उस समय बुद्धधर्म का यहाँ बोल-बाला था। उदयन ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था। भगवान् बुद्ध यहाँ प्राय: आते थे। बौद्ध-ग्रंथों के अनुसार कौशाम्बी बौद्धों का एक खास केन्द्र था। इस बात के अनेक चिह्न आज भी कौशाम्बी के ध्वंसावशेष में पाये जाते हैं। भारत-सरकार का पुरातत्व-विभाग इसकी महत्ता का अनुभव करके शीघ्र ही इस स्थान की खुदाई करने वाला है।

व्यास जी को कौशाम्बी में अनेक प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो म्युज़ियम में रक्खी हुई हैं। उनमें कई शिलालेख भी हैं, जिनमें एक ऐसा है जिससे कौशाम्बी की प्राचीनता सिद्ध होती है और यह भी सिद्ध होता है कि यह वही कौशाम्बी है जहाँ महाराज उदयन राज्य करते थे। यह शिलालेख संवत् १२४५ विक्रमी का है। इसमें लिखा है—

"कौशाम्ब पत्र लायाँ
मेहबड़ ग्राम" आदि

यह शिलालेख मेहबड़ ग्राम में प्राप्त हुआ। मेहबड़ ग्राम कौशाम्बी से दस मील दूर स्थित है। तीन शिलालेख मेघभद्र के समय के भी यहाँ मिले हैं। मौर्यकाल के भी कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं।

कौशाम्बी में एक बड़ी अपूर्व वस्तु प्राप्त हुई है। वह बुद्धकाल के लाल पत्थर की एक मूर्ति है। यह मूर्ति म्युज़ियम के भीतर जाते समय बरामदे में बाईं ओर रक्खी हुई है। यह सन् १९३४ ई० में व्यासजी को मिली थी। मूर्ति चार फुट लम्बी है। इसका सिर और दाहिना हाथ कटा है। यह कनिष्ककाल के द्वितीय वर्ष की जान पड़ती है। मूर्ति के नीचे पदस्थल में कुशान-लिपि में कुछ वाक्य खुदे हुए हैं उसका अर्थ इस प्रकार है—

"कनिष्क के राज्य के द्वितीय वर्ष में भिक्षुणी बुद्धि-मित्रा ने इस 'बोधिसत्व' को इस स्थान पर गौतम बुद्ध के अनेक बार पधारने के पलक्ष में स्थापित किया।"



जैन तीर्थंकरों के सिर

बुद्ध की यह मूर्ति बड़ी सुन्दर है। इसका लाल रंग अभी तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। अब तक कनिष्क के राज्य के तृतीय वर्ष की एक मूर्ति मिली है, जो इस समय सारनाथ के म्युज़ियम में रक्खी है। इससे सिद्ध होता है कि कनिष्क के समय में कौशाम्बी बौद्धों का एक बड़ा केन्द्र था। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी प्राचीन मूर्ति भारत के किसी भी म्युज़ियम में नहीं है। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस मूर्ति की प्राचीनता को स्वीकार किया है। 'बोधिसत्व' की इतनी अद्भुत और सुन्दर मूति आज तक नहीं प्राप्त हुई है।

कौशाम्बी में लगभग एक दर्जन पत्थर के ऐसे सिर प्राप्त हुए हैं जो जैन-काल के हैं। अनेक मुद्राओं में जैन-तीर्थङ्करों के ये सिर बड़े महात्व के हैं। इनमें से दो के नाम 'चतुर्मुख रुद्र' और 'एक मुख रुद्र' हैं। कुशाण-काल के दो 'रेलिंग पिलर' और एक फुट लम्बे छः इंच चौड़े पत्थर के चार सुन्दर टुकड़े मिले हैं। यह भी प्रायः जैन-तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ हैं। एक बड़ा पत्थर, तीन फुट लम्बा, दो फुट चौड़ा और चार इंच मोटा और प्राप्त हुआ है, जिसमें २४ जैन-तीर्थङ्कर हैं। म्युज़ियम में ये मूर्तियाँ और पत्थर बड़ी सावधानी से सुरक्षित रक्खे गये हैं।

गुप्तकाल के अनेक टेराकोटा (खिलौने) म्युज़ियम में रक्खे हुए हैं। व्यास जी ने लगभग २०० ऐसे खिलौनों का संग्रह किया है, जो कौशाम्बी के इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। बुद्धकालीन कई जानवरों की मूर्तियाँ इन खिलौने में बनी हैं। खिलौनों का कुछ हिस्सा टूट भी गया है। एक बैल और हाथी की टूटी हुई मूति भी है। इसका कुछ हिस्सा ग़ायब है। पुरातत्त्व-विभाग के डाइरेक्टर जनरल रायबहादुर दयाराम सहानी का कहना है कि टूटे हुए हिस्से में घोड़ा और सिंह की मूर्ति रही होगी। व्यास जी को ईसा की मृत्यु के बाद तीसरी सदी का रथ का एक पहिया भी कौशाम्बी में मिला है। यह भी एक अद्भुत वस्तु है। मौर्य-काल के कुछ खिलौने तथा मनसादेवी नाम के खिलौने, जिसे साँप देवियों की मूर्ति कहते हैं, मिले हैं। इसके सिवा उस काल की एक सील (मुहर) भी म्युज़ियम में रक्खी हुई है

जो बड़े महत्त्व की है। इन सभी वस्तुओं को व्यास जी ने बड़े परिश्रम से प्राप्त किया है।

म्युज़ियम में एक और सुन्दर और अद्भुत मूर्ति है, जिसका केवल सिर ही है। ऐसा सुन्दर सिर अभी तक देखने में नहीं आया। यह इलाहाबाद के दक्षिण-स्थित भीटा नामक गाँव के एक पेड़ के नीचे पड़ा हुआ मिला था। इसके मिलने की एक मनोरंजक घटना है, जिसे व्यास जी ने हमें बताया है। व्यास जी को जब मूर्ति का पता चला तब वे उसे लेने पहुँचे। मूर्ति पेड़ के नीचे पड़ी थी। पेड़ के पास ही एक बुढ़िया का झोपड़ा था। बुढ़िया ने ज्योंही देखा कि मूर्ति ले जाई जा रही है, तब वह रोती हुई दौड़ी और उसने व्यास जी से उस मूर्ति को छीन लिया और अपनी झोपड़ी से दौड़ कर सेंदुर और तेल लाई और मूर्ति पर पोत कर उसे न ले जाने के लिए आग्रह करने लगी। किन्तु व्यास जी उसे कब छोड़ने वाले थे, अन्त में उन्होंने बुढ़िया के साथ ही गाँव वालों को राज़ी किया तब वह मूर्ति मिली। भीटा भी ऐतिहासिक दृष्टि से एक बड़ा प्राचीन स्थान है। यहाँ कितनी ही पुरातत्त्व सम्बन्धी वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं। बुद्ध की यह मूर्ति बड़ी सौम्य और सुन्दर है। जान पड़ता है कि यह मूर्ति गुप्तकालीन है। इसके सिवा म्युज़ियम में लगभग छप्पन मूर्तियाँ सारनाथ से मँगा कर अलग रक्खी गई हैं। इन्हें भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग ने उधार के तौर पर म्युज़ियम को दिया है। बघहर, मिर्ज़ापुर, गाज़ीपुर, बाँदा, बुलन्दशहर से भी अनेक प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। दक्षिण-भारत से भी व्यास जी बहुत सी मूर्तियाँ लाये हैं। कौशाम्बी में प्राप्त रंग-बिरंगी बहुत-सी गुरियों का भी यहाँ एक संग्रह है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए यहाँ का पुरातत्त्व-विभाग सचमुच बड़े महत्त्व का है।

म्युज़ियम का प्राचीन मुद्रा और हस्तलिपि-विभाग भी दर्शनीय है। कौशाम्बी के मैदानों और खेतों में कितनी ही मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। गढ़वा के क़िले के पास प्राप्त हुई लगभग २०० मुद्राएँ हैं। कौशाम्बी की मुद्राओं में अनेक बड़ी प्राचीन हैं। एक पुरातत्त्ववेत्ता

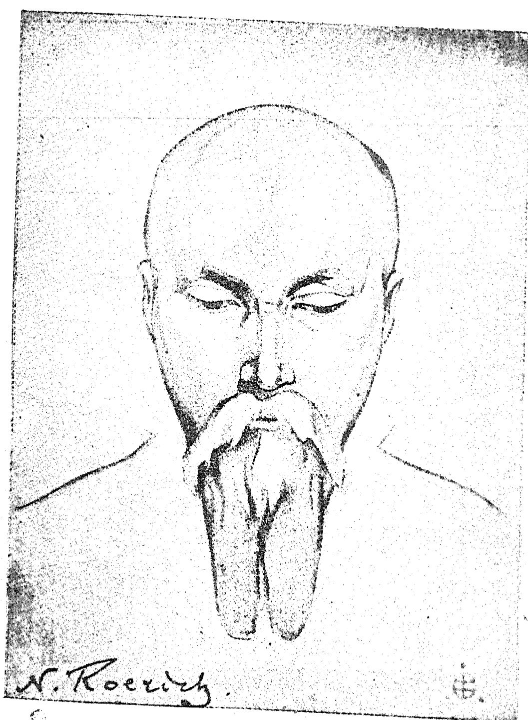
का कहना है कि ये मुद्राएँ चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की हैं। इन मुद्राओं में एक बड़े महत्त्व की है जिसके एक ओर ब्राह्मी-लिपि में 'मा' खुदा हुआ है। सम्भवतः यह चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की है। इन मुद्राओं में प्रायः बैल, गाड़ी का पहिया, वृक्ष और स्वस्तिक के चिह्न हैं। मुग़ल कालीन सोने-चाँदी के कई सिक्के भी बड़े महत्त्व के हैं। इंडोग्रीक सिक्के भी कुछ अंशों में प्राप्त हुए हैं। अनेक संख्या में जौनपुर के शर्की बादशाहों के समय के सिक्के भी रक्खे हुए हैं। व्यास जी मुद्राओं और सिक्कों के संग्रह में विशेष रुचि रखते हैं। उक्त मुद्राओं के सिवा उन्होंने सैकड़ों सिक्के ऐसे संगृहीत किये हैं, जिनका मूल्य लगभग ५० हज़ार के है। यह इनकी निजी सम्पत्ति है, जिनमें से कई सौ म्युज़ियम को दे दिये गये हैं। इलाहाबाद के भूत-पूर्व कमिश्नर मिस्टर बामफ़ोर्ड आई० सी० एस० ने, जो पुरातत्त्व और प्राचीन मुद्राओं के बड़े पारखी हैं, इस काम में बड़ी सहायता पहुँचाई है।

प्राचीन काल की हस्तलिपियों का जो सुन्दर संग्रह यहाँ है उसमें ताड़पत्र और कतबे हैं। ताड़पत्र दक्षिण-भारत में रामेश्वरम् के किसी पंडे के यहाँ से प्राप्त हुआ है। इसकी लिपि और लेखन-प्रणाली अद्भुत है। कई कतबों की लिपियाँ इतनी साफ़ और सुन्दर हैं कि उनके कातिबों की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। दिल्ली और लखनऊ के प्राचीन सुलेख लिखने वाले श्री अब्दुलरशीद दैलमी और नूरुल्ला के कतबे अत्यन्त सुन्दर हैं। इन कतबों की संख्या लगभग डेढ़ सौ होगी। तुग़रे भी कई दर्शनीय हैं। मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफ़ की कई हस्तलिखित प्रतियाँ म्युज़ियम में रक्खी हुई हैं। दो-दो फुट की तख्तियों पर लिखे हुए कई कतबे हैं। इनकी संख्या लगभग २०-२५ के होगी। इनके देखने से प्राचीन सुलेखकों के हस्त-कौशल का अच्छा परिचय मिलता है।

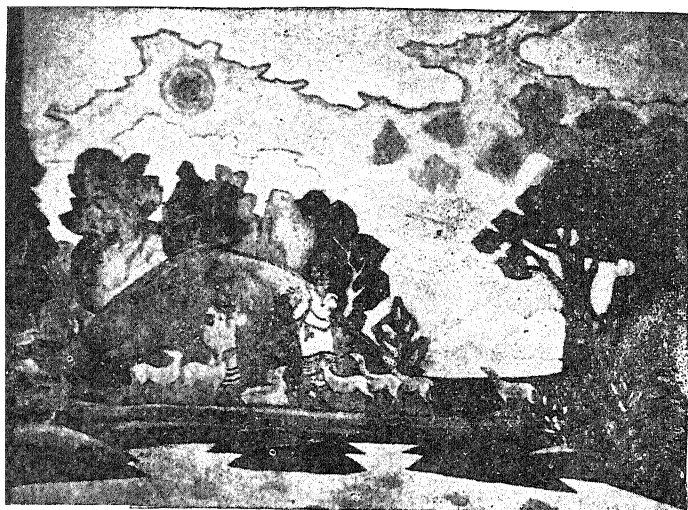
म्युज़ियम का चित्रकला-विभाग भी विचित्र है। इसमें प्राचीन और आधुनिक प्रसिद्ध चित्रकारों के चित्रों का संग्रह किया गया है। प्राचीन चित्रकला में कांगड़ा-शैली के चित्रों की अधिकता है। जैन, राजपूत और मुग़ल-काल के कई चित्र हैं, जो प्रसिद्ध चित्रकारों-द्वारा

अंकित किये गये हैं। बसौली के चित्र भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन चित्रों को देख कर प्राचीन चित्रकारों की कुशल कूँचियों की ओर चित्त बरबस आकर्षित हो जाता है। तिब्बत की चित्रकला के लगभग ५० चित्र बड़े अद्भुत हैं। इन चित्रों को तिब्बत की राजधानी लासा से प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु श्री राहुल सांकृत्यायन लाये थे। अमेठी के राजकुमार श्री शत्रुञ्जयसिंह ने लगभग एक हज़ार रुपये की लागत के तिब्बत के चित्र म्युज़ियम को प्रदान किये हैं। महाभारत और रामायण सम्बन्धी कई चित्र बड़े महत्त्व के हैं। कितने ही वर्ष बीत गये, किन्तु इन चित्रों के रंगों और सौंदर्य में इस समय भी कमी नहीं मालूम होती।

आधुनिक कलाकारों के चित्र भी काफ़ी संख्या में हैं। संसार के प्रसिद्ध कलाकार डाक्टर नेकोलस रोरिक ने अपने १९ चित्र म्युज़ियम को दिये हैं, जिनका मूल्य ३ लाख रुपया है। इन चित्रों का प्रदर्शन एक बड़े हॉल में किया गया है, जिसका नाम 'रोरिक हॉल' है। डाक्टर रोरिक के सभी चित्र बड़े सुन्दर हैं। इन चित्रों का दार्शनिक महत्त्व है। भावना, कल्पना और अनुभूति का अभूतपूर्व सम्मिलन इन चित्रों में प्राप्त होता है। लखनऊ आर्ट्स स्कूल के प्रिंसिपल, प्रसिद्ध चित्रकार श्री असित कुमार हाल्दार के चित्रों के प्रदर्शन के लिए एक कमरा सुरक्षित कर दिया गया है, इसका नाम 'हाल्दार-हॉल' है। श्रीयुत हाल्दार ने अपने चित्रों का विशाल संग्रह म्युज़ियम को दिया है। श्री हाल्दार के चित्रों में 'गुहक-मिलन' और 'अकबर दि बिल्डर' नामक चित्र बड़े उच्चकोटि के हैं 'अकबर दि बिल्डर' चित्र काफी बड़ा है। यह इण्डिया हाउस में होने वाली प्रदर्शनी में प्रदर्शित होने के लिए विलायत गया है। श्री हाल्दार की प्रसिद्ध बँगला-पुस्तक 'ख्यालिया' की हस्तलिखित प्रति और उसके चित्र मूलरूप में यहाँ सुरक्षित हैं। कई रूपक-चित्र भी इस संग्रह में हैं। लगभग ९० पेंसिल स्केचें, कई लाइन ड्राइंगें भी महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीयुत हाल्दार-द्वारा अङ्कित यहाँ एक महत्त्वपूर्ण फेस्को पेंटिङ्ग भी है, जो १२"×४" फुट लंबा-चौड़ा है। इस प्रकार की केवल दो पेंटिङ्गें



रूसी कलाकार रोहिक



रोहिक का बनाया हुआ एक चित्र

अभी तक बनी हैं—एक शांतिनिकेतन, बोलपुर में है और दूसरी इस म्युज़ियम में।

भारतीय चित्र-कला के प्रवर्तक श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का 'देवशिल्पी' शांतिनिकेतन कलाभवन के अध्यक्ष श्री नन्दलाल बोस के 'बहनें' और 'चैतन्य और उनके दो शिष्य, महाराजा आर्ट कालेज के प्रिंसिपल श्री शैलेन्द्रनाथ डे के 'होली' और 'गजेन्द्रमोक्ष' 'प्रसिद्ध चित्रकार श्री वारेश्वर सेन का 'मन्दिर में' नाम के चित्र भारतीय कला के जागृत चिह्न हैं। नवयुवक चित्रकारों में श्रीयुत रामगोपाल विजयवर्गीय के चित्रों की संख्या लगभग ४० के हैं, जिनमें 'मदन-शृंगार अद्भुत है। उनमें 'इलाहाबाद की ऐतिहासिक चित्रकला' सीरीज़ के चित्र महत्व के हैं। डाक्टर भंडारकार ने इन चित्रों को बहुत पसंद किया था। अन्य चित्रकारों के भी कुछ चित्र हैं। कई आर्ट-स्कूलों के विद्यार्थियों की तसवीरें और लाइन ड्राइंगें भी रक्खी हैं। म्युज़ियम के इस विभाग को भी व्यास जी दिन-प्रति-दिन उन्नत बनाते जा रहे हैं। भारतीय कला को व्यापक बनाने और जनसाधारण में प्रचार की दृष्टि से म्युज़ियम के 'रोरिक सेंटर आफ़ आर्ट्स' की ओर से श्रेष्ठ चित्रकारों के चित्रों की नुमायशें भी की जाती हैं। लखनऊ आर्ट-स्कूल के विद्यार्थियों, कुमारी अमृतशेर गिल, श्री रामगोपाल विजयवर्गीय और श्री अनागरिक गोविन्द के चित्रों की नुमायशें पिछले वर्षों में हुई हैं। इन नुमायशों के संगठन में प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ श्री रामचन्द्र टण्डन का विशेष हाथ रहा है। म्युज़ियम के चित्रकला-विभाग को भी श्री टण्डन जी का सहयोग प्राप्त है।

म्युज़ियम को राष्ट्रपति पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कितनी ही वस्तुएँ प्रदान की हैं। वे सब ख़ास तौर से एक कमरे में सजाई गई हैं। पंडित जी ने पिछले वर्षों में कांग्रेस के काम से भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों का दौरा किया है। वे लङ्का, श्याम, बरमा तथा योरप के कई मुल्कों में भी गये थे। इन अवसरों पर वहाँ के स्त्री-पुरुषों, बालक-बालिकाओं ने अपनी बनाई हुई तथा अपने प्रान्त या देश की बनी हुई कितनी चीज़ें उन्हें उपहार में दी थीं। इन वस्तुओं से

हाथ की भिन्न शैली की दस्तकारियों का सुन्दर परिचय मिलता है। दक्षिण-भारत में प्राप्त वस्तुएँ तो भारतीय कला के सुन्दर नमूने हैं। इन वस्तुओं के अलावा पंडित जी के हाथ के लिखे हुए अनेक अवसरों के पत्रों तथा लेखों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी सुरक्षित रक्खी हुई हैं। इस विभाग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण पत्र हैं महात्मा गांधी के। महात्मा जी ने अनेक अवसरों पर स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती कमला नेहरू आदि को पत्र लिखे हैं। वे सभी पत्र यहाँ सुरक्षित रक्खे गये हैं। इसके सिवा महात्मा जी के कुछ ऐसे पत्र भी यहाँ एकत्र किये गये हैं जिन्हें उन्होंने अन्य नेताओं तथा व्यक्तियों को समय समय पर लिखा है।

म्युज़ियम के अन्तर्गत तीन पुस्तकालय भी हैं। म्युज़ियम-लाइब्रेरी, पर्शियन-अरेबिक-लाइब्रेरी और पंडित जयकृष्ण व्यास-लाइब्रेरी आफ़ संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथ। इसके सिवा पुरातत्त्व और कला से सम्बन्ध रखनेवाला एक और पुस्तकालय भी है। म्युज़ियम लाइब्रेरी में डाक्टर नेकोलस रोरिक-द्वारा भेंट किये गये कलात्मक साहित्य का संग्रह है। डाक्टर रोरिक ने अपने साहित्य को जनता के उपयोग के लिए दिया है, जिससे कला के सम्बन्ध में लोगों में रुचि बढ़े और प्राचीन भारतीय ज्ञान का प्रचार हो। पर्शियन और अरेबिक लाइब्रेरी में अरबी-फ़ारसी के बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इनमें 'गुलिस्ताँ' की एक बड़ी अपूर्व प्रति है। इसमें लगभग २०० पृष्ठ हैं। मोटे काग़ज़ पर लिखी गई है। प्रत्येक पृष्ठ के चारों ओर स्वर्णाङ्कित सुन्दर डिज़ाइनें हैं। यह ग्रन्थ मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ के समय का है। इसमें शाहजहाँ की मुहर लगी हुई है। इस विभाग में सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकालय 'पण्डित जयकृष्ण व्यास लाइब्रेरी आफ़ संस्कृत मैनिस्क्रिप्ट्स' है। इस लाइब्रेरी में संस्कृत के लगभग ६ हज़ार प्राचीन ग्रन्थ हैं। लगभग ४ हज़ार हस्तलिखित ग्रन्थ पं० ब्रजमोहन व्यास की पैतृक संपत्ति है और दो हज़ार हस्तलिखित ग्रन्थ व्यास जी ने स्वयं संगृहीत किये हैं। इनमें कितनी ही पुस्तकें ऐसी हैं जो अभी अप्रकाशित हैं। ज्योतिष और वैद्यक के कई ग्रन्थ ऐसे हैं जो अभी तक प्रकाश में नहीं आये।



रोहिक के मित्र

व्यास जी के पिता पण्डित जयकृष्ण व्यास संस्कृत-साहित्य में विशेष दख़ल रखते थे। उन्हें संस्कृत की बिखरी हुई निधियों के संग्रह का भी बड़ा शौक़ था। इसी लिए इस लाइब्रेरी का नाम उन्हीं के नाम पर रक्खा गया है।

म्युज़ियम का एक जनरल सेक्शन भी है। इस विभाग में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राचीन अर्वाचीन वस्तुओं का संग्रह किया गया है। इन वस्तुओं में जंगली जातियों के कई माडल भी हैं। प्रकृति की विचित्रता के कई अद्भुत नमूने यहाँ रक्खे गये हैं। इनमें दो सिर का एक बच्चा भी है। कई और बच्चे भी हैं जो जुड़वाँ और अंगरहित हैं। अनेक प्रकार की मछलियाँ और साँप भी सुरक्षित हैं। कुछ प्राचीन मूर्तियाँ और बर्तन भी हैं, जो दक्षिण-भारत से प्राप्त हुए हैं और कुछ नैपाल और तिब्बत से मँगाई गई हैं। लखनऊ के मिट्टी के खिलौने भी दर्शनीय हैं। इनसे लखनऊ के प्राचीन और अर्वाचीन खिलौने बनानेवालों की अद्भुत हस्त-कुशलता का परिचय मिलता है। चीनी मिट्टी के बर्तन, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह भी देखने लायक़ है। अस्त्र-शस्त्रों में प्राचीन और आधुनिक दोनों हैं।

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि १७ वर्षों से इस म्युज़ियम का काम हो रहा है और इसने अपना भारत के म्युज़ियमों में एक स्थायी स्थान बना लिया है, किन्तु अभी तक इसका उद्घाटन-समारोह तक नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि इसके संचालक और सर्वेसर्वा पण्डित ब्रजमोहन व्यास चुपचाप काम करनेवाले व्यक्तियों में हैं। म्युज़ियम की पुरातत्त्व की दृष्टि से बड़ी ख्याति है और समय समय पर यहाँ बड़े बड़े विद्वान्, पुरातत्त्ववेत्ता और मर्मज्ञ इसे देखने आते हैं। म्युज़ियम की ओर से इसकी महत्ता और व्यापकता बढ़ाने के लिए कुछ प्रकाशन भी किया है, जिनमें कला और पुरातत्त्व-सम्बन्धी पुस्तकें और ट्रेक्ट्स हैं।

—ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

संसार के किसी भी साहित्य का उत्थान उसकी संस्थाओं के उत्थान के इतिहास के साथ चोली-दामन की तरह जुड़ा रहता है। हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग भी इस नियम का अपवाद नहीं। किन्तु हिन्दी किसी एक छोटे-से प्रदेश या प्रान्त या जनसमूह की



नागरी प्रचारिणी सभा

भाषा तो है नहीं, वरन् इसका क्षेत्र तो एक तरह से विस्तृत भारतवर्ष है और मातृवत् इसकी भक्ति एवं स्नेह करनेवालों की संख्या भी २५ करोड़ से ऊपर ही है। इसलिए इसकी एक नहीं, अनेक संस्थाओं का होना भी उतना ही स्वाभाविक है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा उन्हीं में से एक प्रमुख संस्था है।

महान् कार्यों का अथवा महान् व्यक्तियों का प्रारम्भ प्रायः साधारण घटनाओं अथवा साधारण परिस्थितियों में ही होता देखा गया है। यह 'होनहार बिरवान' के 'चीकने पात' की कहावत विरोध नहीं, वरन् समर्थन ही है; क्योंकि पत्ते 'चिकने' जरूर होते हैं, किन्तु बड़े अथवा कोमलता तथा सुकुमारता-रहित नहीं। नागरी-प्रचारिणी सभा का आरम्भ भी कुछ इसी प्रकार दो-चार मित्रों की सार्वजनिक भावना के आधार पर ही १६ जुलाई, १८९३ को हुआ था। वह मुहूर्त अवश्य ही अत्यन्त शुभ एवं सिद्धि देने वाला रहा होगा। हमारे जैसे देश में किसी सार्वजनिक संस्था का पचास वर्षों तक जीवित रह जाना ही कम बधाई का विषय नहीं; फिर सभा की तरह अपने उद्देश्य की ओर इस सफलता के साथ निरन्तर अग्रसर होते रहना तो उसके ठोसपन और लोकोपयोगिता का ज्वलन्त उदाहरण ही कहा जायगा। शंकर की पावन पुरी में 'अमरत्व' तथा सिद्धि का तो किसी के लिए भी जन्मसिद्ध अधिकार ही समझना चाहिए; किन्तु इनकी प्राप्ति के लिए भी तप तथा साधना अभीष्ट हैं।

सेवा, लगन और आत्म-त्याग

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की आद्यन्त कार्यवाही पर यदि एक विवेचनात्मक दृष्टि डाली जाय, तो समझने में देर न लगेगी कि इसकी इस महान् सफलता के पीछे कार्य-साधना का बहुत बड़ा बल रहा है। प्रारम्भ से ही इसके कार्यकर्त्ताओं ने अपना मार्ग निश्चित कर लिया था कि उन्हें हिन्दी के भाषा तथा साहित्य दोनों ही अंगों को परिपुष्ट करना है। इसी विचार को लेकर कोष, व्याकरण, हिन्दी-भाषा, हिन्दी-पत्रों तथा हिन्दी-उपन्यासों के इतिहास, यात्रा, हिन्दी के

विद्वानों के जीवन-चरित तथा वैज्ञानिक ग्रन्थ आदि लिखाने का आयोजन किया गया। उपर्युक्त आयोजन पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इसके संचालकों का ध्येय अपने साहित्य एवं अपनी भाषा की वास्तविक सेवा का था, जिसके पीछे अध्यवसाय और सच्ची लगन का बल भी कम न था। वैसे तो इन उद्देश्यों अथवा इनसे भी अधिक व्यापक उद्देश्यों को लेकर ही कितनी अन्य संस्थाओं का जन्म नहीं हुआ? किन्तु कार्य कितना हो सका? शायद इस कमी का कारण कोई साधनों की न्यूनता में देखे; परन्तु यह भूलना न होगा कि साधन और उपकरण साधना-शक्ति के दास हुआ करते हैं। कोई यह न सोचे कि काशी की सभा में कार्य करने वालों की संख्या शायद अपार रही हो। वे तो इने-गिने तीन ही चार व्यक्ति थे, जिन्हें सभा के हाथ-पैर कहा जा सकता है। हाँ, इससे प्रेम करने और सहानुभूति रखनेवाले अवश्य अनेक थे; किन्तु सभा की उत्तरोत्तर सफलता के साथ ही स्वभावत: उनकी संख्या भी बढ़ती गई।

इस प्रसंग में एक घटना कम रोचक न होगी। श्रद्धेय बाबू राधाकृष्णदास ही, जिन्हें सभा का शक्तिशाली स्तम्भ कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी, जब उन्हें सभा के सभापति-पद के लिए आमन्त्रित किया गया, इसकी सफलता के विषय में अधिक उत्साहित नहीं थे। अत: उस उत्तरदायित्वपूर्ण पद को उन्होंने बड़े संकोच के साथ ही ग्रहण किया था। अनेक वर्षों तक उन्होंने इस पद को सच्चे अर्थों में सुशोभित किया था। यह घटना मनोरंजक भले ही हो; किन्तु इसके पीछे सभा की विशाल सफलता का रहस्य छिपा हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ से ही इस सभा की बागडोर पदलोलुपों के हाथों में न पड़कर ऐसे विचारशील कर्त्तव्यनिष्ठों के हाथ में आई, जो अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझते थे तथा उसकी मर्यादा की रक्षा करने में समर्थ भी थे।

सभा के दूसरे आधार-स्तम्भ हैं रायबहादुर डाक्टर श्यामसुन्दर-दास। यह उन्हीं की कठोर एवं सतत तपस्या का फल है कि सभा अपनी सेवा की भावना को सजीव किए हुए उन्नत मस्तक होकर

राष्ट्रभाषा-मन्दिर के द्वार पर प्रधान परिचारिका के रूप में खड़ी हुई है। यह कहना ग़लत नहीं कि बाबू श्यामसुन्दरदास ने सभा को 'बनाया' तथा सभा ने भी बाबू श्यामसुन्दरदास 'बनाया'। किसी सार्वजनिक संगठन को उनकी सी लगन और सूझ के सेवक भाग्य से ही मिला करते हैं। प्रारम्भ से प्रायः अब तक सभा की उन्नति के इतिहास की प्रत्येक कड़ी बाबू साहब के जीवन तथा मनन से जुड़ी हुई है। बाबू साहब की पत्नी तक ने सभा को 'पुत्री' के रूप में माना है। यदि सन्तति को मनुष्य की आत्मा का अंश कहा जा सकता है, तो उपर्युक्त भावना से अधिक उपयुक्त और कोई दूसरी भावना कल्पना की भी वस्तु नहीं हो सकती।

सौभाग्य की बात तो यह है कि आज दिन भी सभा को उन रक्षकों एवं सेवकों का सहयोग प्राप्त है, जिनका हाथ प्रायः प्रारम्भिक काल से ही उसके निर्माण में था। पंडित रामनारायण मिश्र और बाबू रामचन्द्र वर्मा, जो इस समय उसका संचालन कर रहे हैं, उसके उन आदि सेवकों में से हैं, जिन्हें यदि उसका 'आदि-पंचभूत' भी कहा जाय तो ग़लत न होगा। प्रायः देखा जाता है कि हमारे देश की संस्थाएँ कुछ विशेष व्यक्तियों को लेकर चलती हैं। किन्तु ऐसा करने से बहुधा उनकी कार्य-प्रणाली कुछ इस ढंग की हो जाती है कि अनेक समर्थ एवं प्रभावशाली व्यक्तित्ववालों का न तो उनकी ओर आकर्षण हो पाता है और न उनका सहयोग ही प्राप्त हो पाता है। इसका फल यह होता है कि ऐसी संस्थाएँ अपनी संकीर्ण सीमाओं में पंगु-सी हो जाती हैं, या फिर उनका पतन बड़ा घोर एवं असहनीय-सा हो जाता है। यदि इस दृष्टि से भी देखा जाय, तो सभा की कार्य-प्रणाली असाधारण रूप से सफल रही है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि जिस युग में सभा का जन्म हुआ था, वह भारतेन्दु इत्यादिक की प्रतिभा के होते हुए भी हिन्दी की प्रतिष्ठा का कदापि नहीं था। यदि संस्कृत के विद्वान इसे 'भाषा' न मानकर 'भाखा' सम्बोधित करके अपमानित करते थे, तो अरबी-फ़ारसी के विद्वान इसे 'दहक़ानियों की ज़ुबान' ठानकर इसकी उपेक्षा

करते थे। रहे अंगरेज़ या शासकवर्ग, सो उनकी आँखों पर लगा शासन-दर्प का चश्मा उन्हें सत्य के दर्शन ही कब और कहाँ करने देता? हिन्दी के इतिहास का पन्ना-पन्ना इस बात का साक्षी है कि जहाँ तक 'सरकारी' सहयोग-समर्थन का प्रश्न रहा है, वह तो हिन्दी को कभी किसी युग में भी प्राप्त नहीं हुआ। इसके विपरीत वह सदा से ही जन-साधारण द्वारा रक्षित एवं पोषित होती रहती है। आज भी इसकी दशा कुछ बहुत भिन्न नहीं। ऐसी परिस्थिति में इसके सेवकों में एकान्त सेवा और लगन की भावना को छोड़कर और कोई आकर्षण—विशेषकर स्वार्थपूर्ण—तो हो ही नहीं सकता था। इस कोटि के व्यक्तियों की भी सभा के संयोजकों में कमी नहीं थी। भारत-माता के गौरव को अतीत काल तक उज्ज्वल बनाए रखने वाले पंडित मदनमोहन मालवीय का सहयोग एवं उनकी देख-रेख सभा के जीवन में अविच्छिन्न-सी ही रही है। न केवल मौखिक ही, वरन् कन्धे से कन्धा जुटाकर काम करने की लगन में भी मालवीयजी का स्थान किसी से कम नहीं रहा।

हिन्दी का संघर्ष और निर्माण-कार्य

अँगरेज़ों के हाथ में देश के शासन की बागडोर तो आ गई थी; किन्तु भारत के न्यायालयों में उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक बोलबाला फ़ारसी भाषा और अक्षरों का ही था। हिन्दी भाषी देश में विदेशी भाषा और विदेशी अक्षरों का यह सिक्का कम खटकने वाली चीज़ नहीं थी—आत्म-सम्मान की ही दृष्टि से नहीं, वरन् आत्मोन्नति के विचार से भी यह परिस्थिति कम शोचनीय नहीं थी। इस ओर सभा का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। १८९५ में हिन्दी-प्रचार का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कुछ अवसरग्राही लोगों ने इससे लाभ भी उठाना चाहा और सुझाव पेश किया कि न हो फ़ारसी अक्षर और न हो देवनागरी, वरन् दोनों ही के स्थान पर रोमन अक्षरों का प्रयोग जारी किया जाय। यह युक्ति थी कोढ़ में खाज उत्पन्न करने की। निरीह, अपढ़ तथा निरक्षर जनता इसकी

भयंकरता को क्या समझती ? किन्तु सभा के प्रहरियों की आँखों में कौन धूल डाल सकता था ? इसका युक्तिपूर्ण विरोध तथा उसमें सफलता प्राप्त करना मालवीय जी के ही चातुर्य, उद्योग और परिश्रम का फल था। यह संघर्ष एक या दो दिन का नहीं था, बल्कि बरसों शतरंज बिछी रही ; किन्तु आखिर सरकार और मुगल-संस्कृति-परस्तों को मात खानी ही पड़ी। कठमुल्लापन इस दिशा में आज भी जारी है, किन्तु वह कब तक टिकेगा ?

किसी भाषा के साहित्य का अध्ययन अथवा निर्माण बिना कोष के सम्भव नहीं हुआ करता। हिन्दी कोष-शून्य रही हो, यह तो नहीं कहा जा सकता, इस सम्बन्ध में प्राचीन से प्राचीन काल के भी उदाहरण उपलब्ध हैं। हिन्दी आरम्भ से ही एक जीवित एवं निरन्तर प्रसरणशील भाषा रही है। पर अपनी पुरानी और नई थाती को एकत्रितकर वैज्ञानिक ढंग के एक नए कोष की इसे बड़ी ही आवश्यकता थी। वैसे तो इस ओर भी लगभग १७७३ से ही यहाँ तथा विदेशों में प्रयोग किए जा रहे थे ; किन्तु इतनी प्राचीन एवं विस्तृत भाषा का सर्वाङ्गीण सपूर्ण कोष बनाना भगीरथ प्रयास ही था। यों तो प्रारम्भ से ही कोष-निर्माण सभा के कार्यक्रम में शामिल था ; किन्तु वास्तविक कार्य नवम्बर, १९०७ से प्रारम्भ किया गया और एक लाख से अधिक रुपया खर्च करके ९३११५ शब्दों का यह कोष १९२७ में, अर्थात् प्रायः बीस वर्षों के सतत प्रयास के रूप में, राष्ट्रभाषा को भेंट किया जा सका। भारतीय भाषाओं में हिन्दी को छोड़ कर इतना बड़ा तथा इतना पूर्ण कोष न किसी के पास है और न शायद उन्हें ऐसे कोष की आवश्यकता ही है ; क्योंकि साहित्य एवं भाषा की प्राचीनता के विचार से अथवा विस्तार की दृष्टि से अन्य भाषाओं की आवश्यकता तो बहुत ही सीमित एवं संकुचित है। इस महान् कोष के निर्माण में भी राष्ट्र-प्रेम एवं राष्ट्रीय जाग्रति की भावना का अखिल एवं निरन्तर बढ़ता हुआ प्रवाह देखने की चीज है। अगणित पुण्यचेता विद्या-व्यसनी हाथों की आहुतियों के बिना यह महान् साधना असम्भव कल्पना ही थी। इसके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य सुयोग्य

सम्पादक राष्ट्रवाणी के निस्वार्थ सेवकों के सदा ही आदर्श माने जायँगे।

अपनी पूर्ण उपयोगिता रखते हुए भी रचनात्मक साहित्य के लिए पारिभाषिक शब्दों के कोष की विशेष आवश्यकता हुआ करती है। बिना इसके गम्भीर विषयों का तात्विक तथा वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं। इस कमी को पूरा करने का प्रथम कार्य तो बड़ौदा-नरेश महाराज सयाजीराव गायकवाड़ ने प्रायः १८९१-९२ में अपने यहाँ प्रारम्भ किया था; किन्तु कुछ दूर चलकर ही वह बन्द हो गया था। कलकत्ते में भी वैसा ही कुछ आयोजन एक सभा के मस्तिष्क की क्षणिक उपज थी। उसी आसरे सभा ने कुछ समय प्रतीक्षा में भी नष्ट किया; किन्तु दिनोंदिन बढ़ती हुई आवश्यकता से विवश होकर सन् १८९८ में इसका कार्य भी सभा को हाथ में लेना ही पड़ा और यह तय हुआ कि पहले भूगोल, गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, रसायनशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र को लेकर पारिभाषिक शब्दों का कोष तैयार किया जाय। इस प्रयास में रेवरेण्ड डाक्टर ग्रीव्ज़ का सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। देश के विभिन्न भागों से विविध विषयों के सर्वमान्य पंडितों एवं संस्थाओं का सहयोग प्राप्त किया गया और लगभग आठ वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद 'वैज्ञानिक कोष' के रूप में यह दूसरी अमूल्य भेंट सभा द्वारा राष्ट्रभाषा को समर्पित की गई। इसकी कितनी आवश्यकता थी, इसका अनुमान उस समय के विद्वान सम्पादक रामानन्द बाबू तथा डाक्टर ग्रियर्सन इत्यादिक द्वारा मुक्तकंठ से की गई इसकी प्रशंसा से ही लगाया जा सकता है।

नए-से-नए ज्ञान की दीवार भी प्राचीन परम्परा तथा पूर्वार्जित ज्ञान की नींव पर ही खड़ी हुआ करती है। वह प्राचीन निधि तो हमारे यहाँ की अगणित हस्तलिखित पुस्तकों में ही बिछी पड़ी है। सरकारी तौर से बंगाल तथा बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी तथा और कुछ अर्द्धसरकारी संस्थाओं की ओर से संस्कृत, फ़ारसी और अरबी की हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह का कार्य आरम्भ हो चुका था; किन्तु हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह तथा उनके विषय में

जानकारी प्राप्त करने की सुविधा की ओर पहले-पहल सभा का ही ध्यान गया था और उसी की चेष्टा का फल था कि सरकार के कान पर भी जूँ रेंगी तथा हिन्दी की यह अमूल्य निधि पूर्णतया नष्ट होने से बच गई। यदि यह संग्रह प्राप्त न होता और डाक्टर हीरालाल जैसे सुयोग्य विद्वान द्वारा वैज्ञानिक ढंग से सुव्यवस्थित होकर हिन्दी-संसार के सामने प्रस्तुत न किया गया होता, तो हिन्दी के एक हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन बहुमूल्य साहित्य के सर्वांगपूर्ण इतिहास का तो प्रश्न ही क्या, शायद उसकी शुद्ध एवं विश्वस्त रूप-रेखा भी न तैयार की जा सकती। आज भी यह कार्य चला ही जा रहा है।

यों तो हिन्दी में पत्रिकाएँ अनेक निकल रही थीं और कितनी ही निकल कर बन्द भी हो चुकी थी; किन्तु गम्भीर साहित्यिक गवेषणा को विद्वानों के सामने प्रस्तुत करने के ध्येय से निकलने वाली पत्रिका एक भी न थी। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन तथा उसका डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा बरसों तक परिश्रम एवं योग्यतापूर्वक सम्पादन हिन्दी- संसार की एक महत्वपूर्ण घटना ही समझा जायगा। उनकी गम्भीर लेखनी ने उनके अमित ज्ञान को इसके पृष्ठों में प्रवाहित करके इसे उस वैज्ञानिकता के रंग में रंग दिया, जो अमिट एवं अपरिवर्त्तित रूप से सदा ही इसकी विशेषता बनी रहेगी।

इस प्रकार सारे साधनों एवं उपकरणों से सम्पन्न होकर सभा ने नवीन एवं प्राचीन साहित्य के अगणित ग्रन्थों की अमितराशि यदि हिन्दी-संसार को भेंट न की होती, तो हिन्दी-साहित्य का एम० ए० बी० ए० में तो कौन कहे नीची कक्षाओं में पठन-पाठन भी ललित कल्पना का ही विषय होता। राष्ट्रभाषा एवं उसके स्पृहणीय साहित्य की सच्ची सेवा एवं उसकी सात्विक भावना को जगाने का सेहरा अगर किसी के सिर पर सुशोभित हो सकता है, तो वह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के सिर पर ही।

राय कृष्णदास जी की सतत चेष्टा से कला-भवन का एक नया अंग भी सभा में प्रस्फुटित हो उठा है। कलाविदों में रायकृष्णदास जी

का अपना स्थान है। उन्होंने तो कला-भवन को अपने जीवन की साधना ही बना रखा है। सभा में यह क्या खुला, मानो सोलहवीं कला ही आ जुड़ी।

—ललिताप्रसाद सुकुल, एम० ए०

भारत-कला-भवन

हमारी संस्कृति के सब से अमूल्य रत्न हमारी कला में निहित हैं। हमारे गौरव-काल की प्राचीन मूर्तियों की उपासना से कोटि-कोटि जनों ने आध्यात्मिक शान्ति और आनन्द प्राप्त किया है। हमारे पुराणों और काव्य-नाटकों के सुन्दर-से-सुन्दर अंशों की चाक्षुष अभिव्यक्ति मूर्त्त कलाओं द्वारा ही हुई है। इसी प्रकार हमारे चित्र भी हैं। अजन्ता की महान् चित्रकला में रस की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जो सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भरी है, संसार उसका क़ायल है। किन्तु लगभग एक एक शती के परतन्त्र जीवन में जिस प्रकार हम लोगों ने अपना बहुत-कुछ गवाँ दिया है, उसी प्रकार हम अपनी सुरुचि भी खो बैठे हैं। फलतः इस बीच हमारी उपर्युक्त कलाओं के ऐसे-ऐसे दिव्य रत्न हाथ से निकल गए कि हमारा भव्य कोहनूर भी उनकी समता में कोई चीज़ नहीं। अभी थोड़े दिनों पहले तक यहाँ के कलारत्नों का बहाव एक प्रखर और प्रपुष्ट धारा के रूप में, निरन्तर रत्नाकर के पार जा रहा था। अपने घर से बाहर जाती हुई इस रत्न राशि को बचाने और उसकी उपयोगिता एवं राष्ट्र के जीवन में उसका वास्तविक मूल्य जनता के समक्ष उपस्थित करने के उद्देश्य से एक जातीय चित्रशाला बनाने की भावना इन पंक्तियों के लेखक के हृदय में सन् १९०८ से ही काम कर रही थी। किन्तु संग्रहकार्य कुछ-कुछ जारी रहने पर भी १९२० के पूर्व यह विचार कार्यान्वित न हो पाया। उन दिनों काशी में अखिल भारतीय सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन हुआ, जिसके संचालकों का विचार यहाँ एक संगीत-परिषद् स्थापित करने का था। उधर कला-संग्रहालय और चित्रशालावाली मेरी योजना तैयार हो

चुकी थी। अतएव यह निश्चय हुआ कि दोनों योजनाएँ एक संग मिलकर कार्य करें। इस प्रकार पहली जनवरी १९२० को भारत-कला परिषद्' की स्थापना हुई, जिसका मुख्य उद्देश्य पुरातत्व-संग्रहालय के साथ-साथ अनेक उपायों से भारतीय संगीत, चित्र तथा अन्य कलाओं का उद्धार, संरक्षण और प्रचार था। कविगुरु श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सहर्ष इसका सभापतित्व स्वीकार किया और एक जोरदार कमेटी इसके संचालन में प्रवृत्त हुई। किन्तु आगे चलकर पाया गया कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण संग्रहालय के साथ-साथ चित्र और संगीत-विद्यालय चलाना सम्भव न था। अतएव कविगुरु के निर्देशानुसार १९२३ में यह निश्चय हुआ कि सारी शक्तियाँ संग्रहालय के विकास में केन्द्रित की जायँ। इतने पर भी अपना निज का स्थान न होने के कारण परिषद् को बड़ी अड़चन का सामना करना पड़ा और दो वर्ष तक संग्रहालय की कुल वस्तुओं को बन्द करके रखना पड़ा। १९२६ में पंडित रामनारायण मिश्र ने, जो उन दिनों सेंट्रल हिन्दू स्कूल (काशी) के हेडमास्टर थे, स्कूल का एक बहुत बड़ा अंश इस संग्रह के प्रदर्शित करने के लिए अलग कर दिया। १९२८ तक यह प्रदर्शन वहाँ चलता रहा। इन्हीं दिनों नागरी-प्रचारिणी सभा के विशाल भवन का दूसरा खंड बनकर तैयार हुआ और डाक्टर श्यामसुन्दरदास के अनुरोध से इस संग्रह को स्थायी रूप से सभा में प्रदर्शित करने का निश्चय हुआ। इस सम्बन्ध की शर्तें भी तय की गईं और जनता के हितार्थ एक ट्रस्ट के रूप में 'भारत कला-भवन' के नाम से यह संग्रहालय सभा में स्थापित हो गया। अब यह संग्रह सभा के विशाल भवन के सारे ऊपर-खण्ड तथा नीचे के अधिकांश में प्रदर्शित है।

इस संग्रहालय के मुख्यतः तीन विभाग हैं—(१) चित्र, (२) मूर्त्ति और (३) पुरातत्त्व। यहाँ के चित्र-संग्रह के विषय में यह बात बिना किसी अत्युक्ति के कही जा सकती है कि भारतवर्ष में तो वह अद्वितीय है ही, विदेश के भी अच्छे-से-अच्छे भारतीय संग्रहों से वह टक्कर लेने का दावा कर सकता है। रंगीन और रेखा-चित्रों को मिला कर

यहाँ के चित्रों की संख्या, गोल आँकड़ों में, ५००० है। इनमें १२वीं शती की पाल-कालीन तालपत्र पर लिखी एक सचित्र बौद्ध पोथी है, जिसमें अजन्ता की परम्परा को हम सजीव पाते हैं। इस प्रकार की पाल-पोथियाँ अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं। देश में इनके उदाहरण नेपाल के राजकीय पुस्तकालय तथा राजगुरु के पुस्तकालय एवं कलकत्ते के रायल एशियाटिक सोसायटी, आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के संग्रह तथा श्री अजित घोष के संग्रह में, बड़ौदा के राजकीय संग्रहालय में तथा इस कला-भवन में हैं। समय के हिसाब से इस पाल-पोथी के पश्चात् १५वीं शती का एक जैन-ग्रन्थ है, जिसमें अजन्ता-कला का अपभ्रंश प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार की और भी सामग्री यहाँ पर है। तदनन्तर अकबर-कालीन मुग़ल-चित्रों का संग्रह उल्लेख योग्य है। मुग़ल-शैली को कुछ लोग भूल से बाहर की शैली समझते हैं; किन्तु बात ऐसी नहीं है। वस्तुतः जिस प्रकार अकबर ने भारतीय पहनावा, भारती स्थापत्य, भारतीय रहन-सहन एवं भारतीय संगीत को अंगीकार कर लिया था, उसी प्रकार उसने भारतीय चित्रकला को भी ग्रहण कर लिया था। उसके तैयार कराए चित्रों में समयानुक्रम से सर्वप्रथम क़िस्सा अमीर हम्ज़ा के हैं। इस चित्रावली के चौदह सौ चित्रों में से अब कुछ ऊपर एक सौ चित्रों का पता है, जिनमें से एक इस संग्रहालय में है; शेष सबके सब विदेशों में हैं। इसी प्रकार का हरिवंश के फ़ारसी-अनुवाद का, जो अकबर ने मुल्ला शीरीं से लगभग १६०० ई० में कराया था, एक चित्रित पत्रा कला-भवन में है। इसमें यह कथा अंकित है कि आदिराजा पृथु ने पृथिवी से कहा कि मैं तुझे दुहूँगा, जिसे अस्वीकार करके पृथिवी गाय का रूप धारण कर भागी और राजा ने उसका पीछा किया। गाय-रूपी पृथिवी आकाश में भागी चली जा रही है; धनुष्पाणि पृथु उसका पीछा कर रहा है। नीचे खड़े लोग चिन्ता और अचरज से देख रहे हैं कि अब क्या होता है। इस चित्र में जैसी गति और सजीवता है, रंगों में वैसी ही तरावट और मलाहियत भी है। जहाँगीर-कालीन चित्रों में शेख फूल नामक सूफी सन्त का चित्र उल्लेखनीय है। इस चित्र में बादशाह जहाँगीर के

हस्ताक्षर भी हैं। पहुँचे हुए शेख अपनी कुटी के आगे अपनी धुन में मस्त हैं और उनका प्रभाव उस भीड़ पर छाया हुआ है, जो उनके दर्शनों के लिए वहाँ एकत्र है। जहाँ तक चित्रकला का सम्बन्ध है, जहाँगीरकाल मुग़ल-कला के पूर्ण यौवन का है। उपर्युक्त चित्र देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसमें उत्कृष्ट रंगों, बारीक क़लम और शबाहत की पराकाष्ठा हो गई है। शाहजहाँ-कालीन चित्रों के भी उत्तमोत्तम नमूने यहाँ हैं। इनमें शाहजहाँ के दरबार का एक चित्र तथा कन्धारविजय आदि के चित्र विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

जिस प्रकार मुग़ल-शैली के चित्रों की विशेषता क़लम की बारीकी है, उसी प्रकार राजस्थानी चित्र चटकीले रंगों और आलंकारिता में अद्वितीय होते हैं। इनके भी अनेक उत्कृष्ट नमूने कला-भवन में हैं। मस्त हाथी की दौड़, बारहमासा और रागमाला के चित्र तथा कृष्ण-लीला और नायिका-भेद-सम्बन्धी चित्र इस शैली के अन्तर्गत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रामचरितमानस की इसी शैली में चित्रित एक प्रति भी दर्शनीय है।

हमारी चित्रकला की पहाड़ी शैली में हमारे उस समस्त रीति-साहित्य की चाक्षुष अभिव्यक्ति है, जिसे केशव से लेकर मतिराम, बिहारी, देव और पद्माकर तक ने प्रस्तुत किया है। कवियों के सुन्दर, से-सुन्दर भाव का चित्रण जैसा इस शैली में हुआ है, वैसा अन्य किसी शैली में नहीं। कला-भवन में इस शैली के चित्रों का अद्वितीय संग्रह है। महाभारत, रामायण आदि धार्मिक विषयों को भी पहाड़ी उस्तादों ने बहुत बड़ी संख्या में और बड़ी उत्तमता के साथ चित्रित किया है। नायिका-भेद, गीतगोविन्द, दुर्गासप्तशती, देवताओं के यान आदि के अनेक उत्कृष्ट चित्र यहाँ प्रदर्शित हैं।

चित्र-संग्रह की भाँति यहाँ मूर्त्ति-संग्रह भी अत्युत्कृष्ट संग्रहालयों में एक विशिष्ट स्थान रखता है। यहाँ की प्रसाधिका की मूर्ति कुषाण-कालीन मथुरा-मूर्ति-शैली की अप्रतिद्वन्द्व प्रति-निधि और भारतीय मूर्त्तिकला के दस-बीस सर्वोत्तम उदाहरणों में से है। चित्तीदार लाल पत्थर के बने ३८½ इंच ऊँचे एक मूर्त्तिस्तम्भ में सामने एक स्त्री खड़ी

है। उसके परिपूर्ण मुखमण्डल पर जो गम्भीर प्रसन्नता एवं शान्त स्मित है, वह अनुपम है। नेत्रों में विमल विकास है। उसके अंग-प्रत्यंग बड़े ही सुढार और खड़े होने की मुद्रा अत्यन्त सरल, अकृत्रिम एवं निर्विकार हैं। मद्रास के सरकारी संग्रहालय ने प्लास्टर-अव-पेरिस में ढली इसकी प्रतिकृति अपने लिए निर्मित्त कराई है तथा देश के अन्य विशिष्ट संग्रहालयों से भी ऐसी प्रतिकृति की माँग आ रही है।

भारतीय इतिहास में गुप्तवंश का राजत्वकाल कला और संस्कृति के पोषण एवं उन्नयन के लिए प्रसिद्ध है। गुप्तों का कला-प्रेम और उनकी उत्कृष्ट रुचि उस युग की प्रत्येक कृति से टपकती है। सौन्दर्य क्या है और अपनी कृति में उसकी अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिए, इसके तत्त्व को गुप्त-कालीन मूर्त्तिकार भलीभाँति जानते थे। इस काल की कई सुन्दर कृतियाँ कला-भवन के मूर्त्ति-मन्दिर में प्रदर्शित हैं। इनमें से, स्थानाभाव के कारण, केवल दो का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। एक तो गोवर्धनधारी कृष्ण की विशाल मूर्त्ति है। यह काशी के एक टीले में पाई गई थी। इसमें कृष्ण का अंकन बड़ा उदात्त और ओजपूर्ण हुआ है। वे गोवर्धन पर्वत को सहज में 'कन्दुक-इव' धारण किए, तने हुए दृढ़ता से खड़े हैं। जिस समय यह मूर्त्ति यहाँ लाई गई थी, उसके दोनों हाथ टूटे हुए थे। अब कुशल मूर्त्ति-शिल्प-विशारद श्री कृपालुदत्त त्रिपाठी द्वारा दोनों हाथ बनवा लिए गए हैं, जिससे उसकी भव्यता निखर आई है। दूसरी मूर्त्ति स्वामिकार्त्तिक की है। वैसे तो स्वामिकार्तिक की गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ प्रायः मिलती हैं; किन्तु कला-भवन में संगृहीत मूर्ति उनमें का अद्वितीय उदाहरण ही नहीं है, गुप्त-कालीन सभी मूर्तियों में उसका विशिष्ट स्थान है। स्वामिकातिक देवताओं की सेना के प्रमुख हैं और बाल ब्रह्मचारी हैं। अतएव उनमें जो गाम्भीर्य, पौरुष, उत्साह और निश्चिन्तता विद्यमान है, उसे इसके निर्माता ने बड़ी सफलता से प्रस्फुटित किया है। सतेज मुखमण्डल, प्रशास्त और उन्नत वक्ष, पीवर भुजदण्ड, दाहिने हाथ से शक्ति का दृढ़तापूर्वक धारण सेनापतित्व के सर्वथा अनुरूप है। गुप्त-

काल के पश्चात् हमारे कलाकारों की कल्पना अपनी प्रौढ़ावस्था को पार करके क्रमशः बुढ़ापे में प्रविष्ट हुई अर्थात् अब उनका हृदय नहीं, मस्तिष्क काम कर रहा था—वे मानों कोई नई उपज कर सकते थे। फलतः इस काल की कृतियों में बहुधा कलाभास ही पाया जाता है। कला-भवन में इस काल की मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें शिव-पार्वती के वैवाहिक दृश्य की मूर्त्ति तथा नाचते हुए गणपति की मूर्त्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वैवाहिक दृश्य में प्रधानता के लिए शिव-पार्वती की मूर्त्ति बड़ी बनाई गई है। उनके पीछे बराती के रूप में गाते-बजाते शंकर के गण, अष्ट दिक्पाल, नवग्रह, कार्त्तिकेय और गणेश, पृथ्वी और नागराज तथा शिव के पार्षद आदि बड़ी सुन्दरता से उत्कीर्ण हैं। नृत्त गणेश की अष्टभुज मूर्त्ति में गणेश का रूप भावपूर्ण है; नाचने की प्रसन्नता उनके मुँहपर झलक रही है और उनकी सारी आकृति मुद्-मंगल-दाता है। उनका त्रिभंग और ताल पर पड़ता हुआ बायाँ चरण सुन्दरता से दिखाया गया है।

किन्तु भारतीय कला-क्षेत्र का विस्तार इतना अधिक है कि उसके कितने ही युगों और शैलियों के उदाहरण इसमें अद्यावधि संगृहीत नहीं हो पाए हैं, जिसके कारण अभी यहाँ समूची भारतीय कला का अध्ययन सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए हमारी मूर्त्तिकला की सर्वोच्च गतिपूर्ण सृष्टि नटराज की एक भी प्रतिमा अभी तक यहाँ नहीं है। प्रसन्नता की बात है कि सीतामऊ के महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंहजू की प्रेरणा और सत्प्रयत्न से श्रीमन्मेवाड़ाधिपति ने १०००) का सात्विक दान इस कमी को पूरा करने के लिए दिया। अभी इसके लिए ४-६ सहस्र और अपेक्षित है। उतना संग्रह हो जाते ही यह अपूर्णता दूर कर ली जायगी।

पिछले कुछेक वर्षों में ही कला-भवन के पुरातत्व-विभाग ने भी यथेष्ट उन्नति की है। कुछ वर्ष पहले सिन्ध-प्रान्त में खुदाई करने पर ई० पू० दूसरी साहस्री के नगरों के जो ध्वंसावशेष निकले हैं, उनमें से मोहेंजोदड़ो-क्षेत्र में प्राप्त वस्तुओं का एक प्रतिनिधि संग्रह भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग ने कला-भवन को भेंट किया है। ताम्र-

युल की तीन पूजनीय ताम्र-आकृतियाँ तथा उसी युग के ताँबे के शस्त्र भी कला-भवन में हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न कालों की पुरातत्व-विषयक सामग्री का यहाँ अच्छा संग्रह है। सन् १९४० के आरम्भ से कला-भवन काशी-क्षेत्र से प्राप्त पुरातत्व-सामग्री का संग्रह करने में विशेष रूप से दत्तचित्त है। काशी भारत की ही नहीं, संसार भर की विद्यमान नगरियों में सबसे प्राचीन है। किन्तु तीन-चार वर्ष पूर्व तक, एकाध वस्तु के अतिरिक्त, ऐसे अवशेष नहीं मिले थे, जिनसे काशी की प्राचीनता के परम्परागत प्रमाणों की पुष्टि होती, १९४० के आरम्भ में रेलवे-विभाग ने गंगा-पुल के ऊपर सड़क बनाने के सम्बन्ध से काशी स्टेशन के पार्श्व में खुदाई आरम्भ की। इस खुदाई में काशी का एक पुराना अंश निकल आया और वहाँ से ढेर की ढेर प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त होने लगीं। इनकी उत्कृष्टता और बाहुलता को देखकर चमत्कृत रह जाना पड़ता है। इनका जैसा विशाल और पूर्ण संग्रह कला-भवन में किया गया है, वैसा कहीं नहीं है। हजारों की संख्या में एक-से-एक बढ़कर मृण्मूर्त्तियाँ, सैकड़ों प्रकार की मुहरें, कुछ प्रस्तर-प्रतिमाएँ, तरह-तरह के मन के तथा भाँति-भाँति के बर्तन-भाँड़े संगृहीत किये गए हैं और विशेष रूप से प्रदर्शित किए जा रहे हैं। इनमें कन्नौज के गहरवार महाराज गोविन्दचन्द्रदेव का कार्तिक पूर्णिमा ११९७ का दो पत्रोंवाला एक ताम्र-शासन भी है।

इस प्रकार अपने २५ वर्ष के जीवन में चित्र, मूर्त्ति और पुरातत्व-सम्बन्धी अत्युत्कृष्ट सामग्री का जैसा विशाल, अनुपम और होनहार संग्रह कला-भवन ने कर लिया है, वह देश के लिए गौरव का विषय है। देश-विदेश के अनेकानेक कला-परिखियों और गण्य-मान्य पुरुषों ने इसकी साख भरी है तथा दाताओं और सरकार ने भी इस कार्य के महत्व को मानकर कला-भवन को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी है; अब तक कला-भवन को कोई एक लाख दान मिल चुका है। पिछले दो वर्षों से संयुक्त-प्रान्तीय सरकार इसे २५००) की स्थायी वार्षिक सहायता दे रही है। भारत-सरकार के पुरातत्व के विभाग ने

भी इसकी उत्तरोत्तर उन्नति एवं अभिवृद्धि से सन्तुष्ट होकर अब यह नीति निर्धारित कर ली है कि सारनाथ के अतिरिक्त काशी तथा आसपास के अन्य स्थानों से पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं तथा भविष्य में प्राप्त होंगी वे कला-भवन में रहेंगी। इस नीति के अनुसार अन्य स्थानों से प्राप्त तथा सारनाथ संग्रहालय में रखी मूर्तियों और इमारती पत्थरों में से अधिकांश सामग्री उक्त विभाग की ओर से कला-भवन को प्राप्त हुई है।

इन सहायताओं और प्रोत्साहनों के कारण कला-भवन का संग्रह स्वभावतः बड़ी द्रुत गति से बढ़ रहा है। जहाँ एक ओर यह बहुत ही हर्ष और सन्तोष का विषय है. वहाँ दूसरी ओर स्थानाभाव के कारण यह अड़चन और कठिनाई उपस्थित है तथा प्रतिदिन बढ़ती जा रही है कि इस सारे संग्रह का समुचित प्रदर्शन किस प्रकार किया जाय। इस समय कला-भवन यद्यपि सभा की विशाल इमारत का आधा अंश छेके हुए है, फिर भी हमारे संग्रह का अधिक भाग तिजोरियों और बकसों में बन्द पड़ा है। जब तक यह समूचा संग्रह समुचित रीति से प्रदर्शित नहीं कर दिया जाता, तब तक इसका पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। अतएव कला-भवन के लिए अब एक ऐसे स्वतन्त्र भवन की आवश्यकता है, जिसमें वर्त्तमान संग्रह के समुचित प्रदर्शन की और आगे के विस्तार-विकास की भी काफ़ी गुंजाइश हो। भवन के लिए ज़मीन तैयार है; इतना ही नहीं, महामना मालवीय जी के हाथों उसकी नींव भी पड़ चुकी है। इसकी योजना भी तैयार है; पर अर्थाभाव के कारण उसमें अब तक हाथ नहीं लग सका है। यह प्रस्तावित इमारत ऐसी होगी, जिसमें मूर्ति-मन्दिर, चित्र-मन्दिर तथा अन्य कला वाले विभागों के सिवा एक सुरक्षित कठोर (स्ट्रांग रूम), एक व्याख्यान-मण्डप, पुस्तकालय, आवश्यक फोटो-विभाग तथा वस्तुओं की सफाई, मरम्मत, संरक्षण और प्रदर्शन, साज-सज्जा के लिए रसायनशाला एवं कारखाना भी हो। १००००) से यह योजना पूरी हो सकती है।

हम चाहते हैं कि कला-भवन में एक संगीत-विभाग की भी

स्थापना की जाय। भारतीय संगीत का हिन्दी-साहित्य से जो अटूट सम्बन्ध है, वह सुविदित है। कबीर, मीरा, दादू, हित-हरिवंश, सूर, तुलसी, तानसेन इत्यादि-इत्यादि अनेकानेक महात्माओं ने हिन्दी के लिए भक्ति की जो पावन धारा बहाई है, उसका एक-एक अमृतमय बिन्दु संगीत से अनुप्राणित है। इस स्वर्गीय भंडार को देश के सभी गुणी गायकों ने बिना भेद-भाव के अपनाया। संगीत और साहित्य का यह घनिष्ट सम्बन्ध और भी सुदृढ़, व्यापक और स्थायी बनाने के उद्देश्य से कला-भवन के अन्तर्गत एक संगीत-मण्डल की स्थापना इसी वर्ष से की गई है। और इस योजना के पूर्त्यर्थ संगीत-प्रेमियों का सहयोग जिस रूप में मिलने लगा है, उससे हमें विश्वास है कि अन्य विभागों की भाँति कला-भवन का यह विभाग भी बहुत शीघ्र अपना विशिष्ट बना लेगा।

हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि हिन्दी में भारतीय कला की अच्छी अच्छी पुस्तकें एवं भारतीय कला-सम्बन्धी एक उच्च कोटि का सचित्र पत्र भी प्रकाशित किया जाय, जिससे हिन्दी-साहित्य का यह अंग तो पुष्ट होवे ही, हिन्दी-जगत् अपनी कला से पूर्ण परिचित भी हो जाय और इसे अपने जीवन में समुचित स्थान देकर राष्ट्र की प्राणधारा को सरस बना सके। इस दिशा में कुछ प्रयत्न हमने किया भी है। सचित्र 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'सचित्र मेघदूत', 'भारत की चित्रकला' और 'भारतीय मूर्त्तिकला' हमारे ऐसे ही प्रकाशन हैं। तथापि इतना काम कुछ भी नहीं है। भारतीय कला के विभिन्न अवयवों और पक्षों पर अभी दर्जनों ग्रन्थ हिन्दी में निकालने हैं। मैजिक लालटेन-व्याख्यानों और सचित्र पत्र द्वारा घर-घर में कला को जीवन में स्थान दिलाना है और उसका एक अंग बनाना है।

इन सब अभावों की पूर्त्ति के लिए दो लाख रुपए अपेक्षित हैं। एक लाख संग्रह को पूर्ण बनाने और प्रकाशन-प्रचार के लिए तथा एक लाख भवन के लिए। अपनी आवश्यकता देश के हृदयालु धनिकवर्ग के सम्मुख उपस्थित करते हुए हम आशा करते हैं कि हमारे पुरखों ने हमारे लिए जो महार्द्द दाय छोड़ा है, उसकी रक्षा के लिए

हमें हृदयालु पर्याप्त सहायता शीघ्र मिलेगी। तभी कला-भवन को हम ऐसा संग्रह बना सकेंगे, जो भारतीय संस्कृति की सुघरता और महत्ता के अनुरूप हो। आज तो हमें भारतीय कला के पूर्ण अध्ययन और आस्वादन के लिए यूरोप-अमेरिका के संग्रहालयों का मुखापेक्षी होना पड़ता है। कितनी लज्जा की बात है यह !

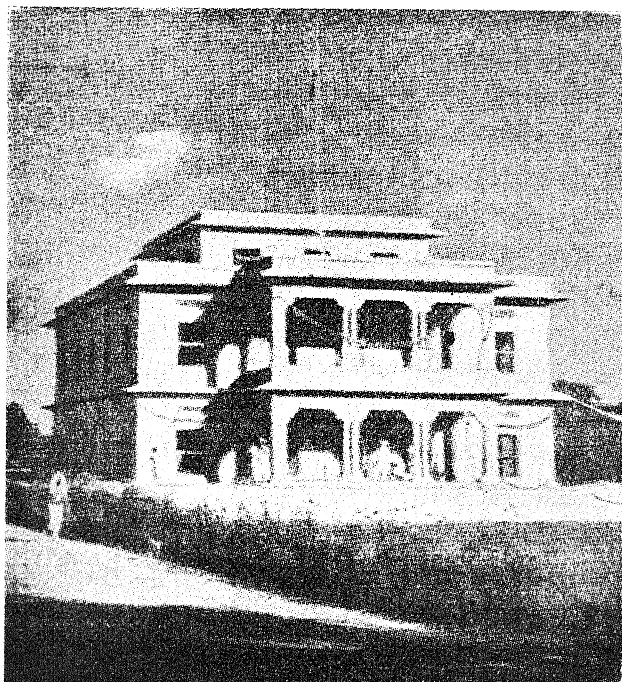
—राय कृष्णदास

भारतमाता का मन्दिर

जाति धर्म या सम्प्रदाय का नहीं भेद व्यवधान यहाँ।
सबका स्वागत सबका आदर सबका सम सम्मान यहाँ॥

काशी के मन्दिरों में एक और वृद्धि हुई है। यह नवीन मन्दिर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, दुर्गा या हनुमान् या ऐसे ही किसी वैदिक या पौराणिक देवता का न होकर हमारी उस मातृ-भूमि की मूर्ति का है जिसकी जय की आवाज़ सुनकर हममें एक अपूर्व आनन्द और उत्साह फैल जाता है और हमारे सामने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और ब्रह्मदेश से लेकर अरब सागर तक की विशाल रम्य भूमि का मानचित्र खचित हो उठता है। बनारस छावनी स्टेशन से उतरकर यदि आप बाबू शिवप्रसाद गुप्त-द्वारा स्थापित विख्यात काशी-विद्यापीठ की ओर चलें तो उसके बाद ही सड़क की बाईं ओर एक सुन्दर हरे-भरे बाग़ में आपको यह दुमंज़िला मन्दिर दिखाई पड़ेगा और उसके ऊपर उड़ता हुआ राष्ट्रीय तिरङ्गा झण्डा अपनी मूकभाषा में आपसे कहेगा—"बेधड़क अन्दर चले आइए !" आप हिन्दू हों चाहे मुसलमान, अमीर हों चाहे ग़रीब आपका मज़हब चाहे जो हो और आपकी समाज में चाहे जो स्थिति हो, कोई आपसे यह नहीं पूछेगा कि आप कौन हैं और क्यों आये हैं। आप बेधड़क मन्दिर के भीतर जाकर अपनी मातृ-भूमि के दर्शन कर

सकते हैं। इस मन्दिर में प्रवेश करने की किसी को मनाही नहीं, इसके अहाते के अन्दर आदमी में कोई भेद नहीं।



भारतमाता का मन्दिर

काशी-विद्यापीठ की भाँति यह अभूतपूर्व मन्दिर भी बाबू शिव-प्रसाद गुप्त के स्वदेश-प्रेम का एक ज्वलन्त उदाहरण है। जब देश में राष्ट्रीयता की लहर उठी और वन्देमातरम् की ध्वनि के सामने वेद-पुराण आदि की वाणी भी भारतवासियों को फीकी लगने लगी तब अनेक कवियों, चित्रकारों और स्वप्न-द्रष्टाओं ने उस वन्दनीय माता के रूप की कल्पना करनी आरम्भ की। कवियों ने एक त्रिशूल-धारिणी सुन्दर नारी की कल्पना की। हिममंडित हिमालय को उसका किरीट, विन्ध्यपर्वत को उसकी मेखला और उत्तर-दक्षिण के

सरिता-सर-वन-उपवन-शस्य-सम्पन्न सुन्दर प्रदेशों को उसका दिव्य परिधान कहा और अनन्त सागर को अपनी अगणित लहरों-द्वारा उसके पद्मपदों पर विविध रत्न निछावर करते देखा। इसी कवि-कल्पना के आधार पर चित्रकारों ने भारत के मानचित्र पर दिव्य नारी-सौन्दर्य अङ्कित करना प्रारम्भ किया। उन्हीं चित्रों को हमने भारतमाता के नाम से पुकारा और उसको मस्तक झुकाया। पर ये चित्रकार और कवि हार गये थे और हमें माता का वास्तविक दर्शन न करा सके थे। हमारे जीवन का वह अभाव इस नूतन मन्दिर का निर्माण करके बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने दूर किया। यह अच्छा ही हुआ कि भारतमाता के इस विपुल व्ययसाध्य स्वरूप की कल्पना बाबू शिवप्रसाद गुप्त जैसे स्वदेशाभिमानी नेता और रईस के हृदय में उत्पन्न हुई। ऐसा न होता तो वह कदाचित् ही इस प्रकार प्रस्तर-खण्डों में प्रस्फुटित होकर हमारे सामने आती।

गत विजयादशमी के दिन जब हजारों नर-नारियों के सम्मुख महात्मा गाँधी ने विविध धर्मों और भाषाओं की पवित्र वाणियों के बीच में इस अभूतपूर्व मन्दिर का उद्‌घाटन किया, तब इन पंक्तियों का लेखक भी वहाँ उपस्थित था और इसे उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे लोग जो वहाँ जमा हैं उन समस्त मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों आदि को जो मनुष्यों के बीच भेद-भाव की दीवारें उठाये खड़े हैं, विदाई दे रहे हैं और उनके लिए महात्मा जी के पवित्र हाथों-द्वारा एक नवीन मन्दिर खुल रहा है जो इस युग के भावों के सर्वथा अनुरूप है।

उस समय आगन्तुकों का स्वागत करते हुए डाक्टर भगवानदास जी ने जिनके हाथों अब से साढ़े दस वर्ष पूर्व २४ लक्ष गायत्री पुरश्चरण के बाद इस मन्दिर का शिलान्यास हुआ था, ठीक ही कहा था कि—

"जब जगतपिता ने देखा कि पिता के भय और प्रीति से मूर्ख लड़के आपस में लड़ना नहीं छोड़ते तब उसने खयाल किया कि माँ की मुहब्बत के आगे इनकी सब लड़ाइयाँ जरूर बन्द हो जायँगी।

और इसलिए अपने एक सच्चे बन्दे शिवप्रसाद को निमित्त-मात्र बना कर उसी कुल रहस्य के मालिक ने जो सूरज-चाँद को भी चलाता है और प्रत्येक परमाणु की भी फ़िक्र करता है; यह बैतुल-मुहब्बत तामीर करवाया, ताकि सब मज़हबों की यकसां इबादतगाह, पूजास्थान हो और भारतमाता की सब सन्तानें, सब धर्मों की, यहाँ आवें और हुब्बलवतनी, स्वदेश-भक्ति, जननी-जन्म-भूमि के प्रेम के ज़रिये से, इश्केहक़ीक़ी, ख़ुदा की मुहब्बत और इन्सान की मुहब्बत, भगवद्भक्ति और विश्वजननी-भक्ति भी सीखें। हर आदमी के दिल में छिपे हुए उसी एक परमेश्वर, अल्लाहे अक़बर को देखें और तमाम मज़हबों के उस सत्य सार को पहिचानें, और अमल में लावें, जिसको उसी परमात्मा ने, ईसा और मुहम्मद और वेदव्यास, सबके मुँह से इंजील और कुरान और वेदों में कहलाया है।"

इस अवसर पर महात्मा गाँधी ने एक बड़ा ही सारगर्भित भाषण किया। उन्होंने कहा—

"शिवप्रसाद जी का प्रेम मुझे खींच न लाता, तो मैं यहाँ आता नहीं, क्योंकि इस पवित्र भावना पर रचे हुए इस मन्दिर का उद्घाटन करने के लिए मैं अपने को योग्य नहीं समझता। शिवप्रसाद को जब से मैं जानता हूँ तब से मैं देखता हूँ कि गङ्गातट को इन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया है। और गङ्गाजल से अपनी देह को पवित्र रखते हैं, तिस पर भी इन्होंने अपने हृदय में एक दूसरी ही गङ्गा को धारण कर रक्खा है। यह भावना और कल्पना की गङ्गा इनके हृदय में हमेशा बहती रहती है और इसमें ये नित्य ही अवगाहन करते हैं। भावना के वे घोड़े भी बनाते और पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हैं। भावना का ऐसा बल है कि वह यदि शुद्ध हो तो स्वर्ग में भी उड़ा ले जा सकता है और अशुद्ध हो तो नरक में भी ले जा सकता है। इनकी भारत-भक्ति की भावना पूना के कर्वे के विधवाश्रम में खुदे हुए एक उठावदार नक़शे को देख कर मूर्त्तिमन्त हुई और इस पर अपनी समुचित धनराशि ख़र्च कर डालने का इन्होंने विचार किया। जैसी इनकी भावना थी, वैसे ही इन्हें कलाकार भी मिल गये, शिल्पी और

इंजीनियर भी वैसे ही मिल गये। एक बार तो इन्हें अपने जीवन की भी आशा नहीं रही थी; किन्तु भगवान् ने जीवित रक्खा और इनका स्वप्न—इनकी भावना की प्रतिमा आज हम अपने सामने खड़ी देखते हैं।

"सबेरे जब मैं पूर्णाहुति देने आया, तो उस समय वेदमन्त्र सुनते सुनते मुझे २० वर्ष से हम जो श्लोक अपनी प्रभात की प्रार्थना में बोलते हैं, उसका स्मरण हो आया—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले,
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं क्षमस्व।

" यह विष्णु-पत्नी ही हमारे पास है, हमारा पोषण करती है, रक्षण करती है, जिसके हम सब ऋणी हैं और जिससे हमें सदा क्षमा माँगनी चाहिए। उसका चित्र मेरे सामने खड़ा हो गया। जिस माता ने हमें जन्म दिया वह तो थोड़े ही वर्ष जीवित रहेगी, किन्तु यह माता तो सदैव है और यदि यह नहीं है तो हम भी नहीं हैं; जिस दिन इसका नाश होगा, उस दिन यह हमें अपनी गोद में लेकर चली जायगी। भारतमाता इसी माता का अंश है, और उसका मानचित्र आज वेदमन्त्रों से पुनीत हुआ है। शिवप्रसाद जी ने सबको बिना किसी प्रकार की शर्त के इस माता की आराधना के लिए निमन्त्रित किया है। जिन्हें माता के प्रति प्रेम है वे यहाँ चले आवें। मैं तो प्रेम का दावा करता ही हूँ। तब फिर मैं इस मन्दिर का उद्घाटन क्यों न करूँ?"

भारतमाता की यह मूर्ति वास्तव में भारतवर्ष का उभड़ा हुआ मानचित्र है जिसे काशी के विज्ञानकला-विशारद श्री दुर्गाप्रसाद जी ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। इसके वास्तविक सौन्दर्य्य का बोध तो देखने से ही हो सकता है, पर जो देखने को नहीं पहुँच सकते वे उसका कुछ अनुमान उद्घाटन के समय इस सम्बन्ध में प्रकाशित एक पुस्तिका की निम्नलिखित पंक्तियों से कर सकते हैं—

"भारतमाता यह सुन्दर भू-चित्र संगमरमर का बना है। इसका परिमाण अर्थात् लम्बाई और चौड़ाई ३१ फ़ुट २ इंच और ३० फ़ुट

२ इंच है। इसे बनाने में ११ × ११ इंच के सात सौ बासठ टुकड़े और कुछ छोटे-मोटे टुकड़े काम में लाये गये हैं। भारत-भूमि की प्राकृतिक ऊँचाई और निचाई आदि पर दृष्टि रखते हुए ये टुकड़े बड़ी सावधानता और शुद्धता से काट-छाँट कर प्रस्तुत किये गये हैं। इस मानचित्र में उत्तर में पामीर-पर्वत शिखरों से लेकर दक्षिण से लंका व सिंहलद्वीप के दक्षिणी छोर डुबुन्डुर तुडुव (डन्ड्रा) तक और पूर्व में मौलमीन तथा चीन की प्रसिद्ध प्राचीन दीवार कहकहा से लेकर पश्चिम में हेरात तक का समस्त भू-भाग दिखाया गया है। भारतवर्ष साथ ही इसके समीपवर्ती प्रदेश—अफ़गानिस्तान, बिलोचिस्तान, भोट (तिब्बत) ब्रह्मदेश (बर्मा), लङ्का (सिंहल) और मलाया प्रायद्वीप का अधिकांश भी दिखाया गया है।

"इस मानचित्र में धरातल भूमि एक इंच में ६-४ मील दिखाई गई है, इसका अर्थ यह हुआ कि मानचित्र की एक इंच की लम्बाई प्रकृति भूमि की ६ मील ७ सौ ४ गज़ (१ गज़ = ३ फ़ुट) के बराबर समझनी चाहिए। भिन्न-भिन्न स्थलों की उँचाई दिखाने के लिए यह मान लगभग सत्रह गुणा बढ़ा कर लिया गया है अर्थात् पहाड़ आदि की उँचाई एक इंच में दो हज़ार फ़ुट दिखाई गई है। हिमालय पर्वत का सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट (गौरीशंकर) संगमरमर के एक ही टुकड़े को काट कर पौने पन्द्रह इंच ऊँचा बनाया गया है। इसकी वास्तविक उँचाई नवीन वैज्ञानिक गणना के अनुसार उनतीस हज़ार फ़ुट से कुछ अधिक यानी लगभग साढ़े पाँच मील है।

"दर्शकों की सुविधा के लिए समुद्र-पृष्ठ से पाँच सौ, एक हज़ार दो हज़ार, तीन हज़ार, छः हज़ार, दस हज़ार, पन्द्रह हज़ार, बीस हज़ार, पचीस हज़ार और उनतीस हज़ार पाँच सौ फ़ुट की उँचाइयाँ शीघ्र ध्यान आकृष्ट करनेवाली रेखाओं-द्वारा, स्पष्ट कर दी गई हैं। इनकी सहायता से किसी स्थान की समुद्र-पृष्ठ से उँचाई का अनुमान करना सहज हो गया है।

"इस मानचित्र में समस्त गिरि-पर्वत उनके विचित्र प्रकार के ऊँचे शिखरों के साथ दिखाये गये हैं। पहाड़ी दर्रे और घाटियाँ भी

अपनी सच्ची गहराई इस चित्र में दिखा रही हैं। सुविशाल हिमालय के चार सौ से अधिक शिखर उनके ठीक स्थानों पर इस तरह दिखाये गये हैं कि देखते ही उनकी ऊँचाई का भी ज्ञान हो जाता है। प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय आख्यायिकाओं में सुप्रसिद्ध कैलास-पर्वत, जो प्रायः तीन सौ मील लम्बी और डेढ़ सौ मील चौड़ी, सदा बर्फ़ से ढकी संसार की सबसे बड़ी पर्वत-श्रेणी है—अपने भव्य शिखरों और हिमानियों (ग्लेसियरों) के साथ दिखाया गया है।"

—श्रीनाथसिंह

दिल्ली की तीन संस्कृतियाँ

भारत के इतिहास में दिल्ली का अपना अलग अलग स्थान है। समय के जितने महान् परिवर्तन इस नगरी ने देखे, कदाचित् ही संसार की अन्य नगरियों ने देखे होंगे। यही एक ऐसी नगरी है जो प्राचीन, मध्य और अर्वाचीन काल को एक सूत्र में गूँथती है। वैदिक समय के अनन्तर, महाभारत-काल में, इसका जन्म हुआ 'इन्द्रप्रस्थ' नाम से सैकड़ों वर्ष तक भारत की यह प्रमुख नगरी प्रसिद्ध रही। फिर पाटलिपुत्र आदि नगरों के आगे वह भुला-सी दी गई और कदाचित् इसी खेद में वह भूगर्भ में भी समा गई।

कहा जाता है कि मयूर-वंश के किसी 'दिलु' नाम के राजा ने अपने नाम से उसका पुनरुद्धार किया। तब से वह 'दिल्ली' नाम से अब तक प्रसिद्ध है। किन्तु शिलालेखों से पता चलता है कि तोमरों ने हरियाना प्रदेश में 'ढिल्ली' नाम की नगरी बसाई *। उस समय उसने फिर अपने वैभव के दिन देखे। लौह-स्तम्भ (दिल्ली की किल्ली) के चारों ओर के खण्डहर दिल्ली की इसी प्रथम (हिन्दू-) संस्कृति के

---

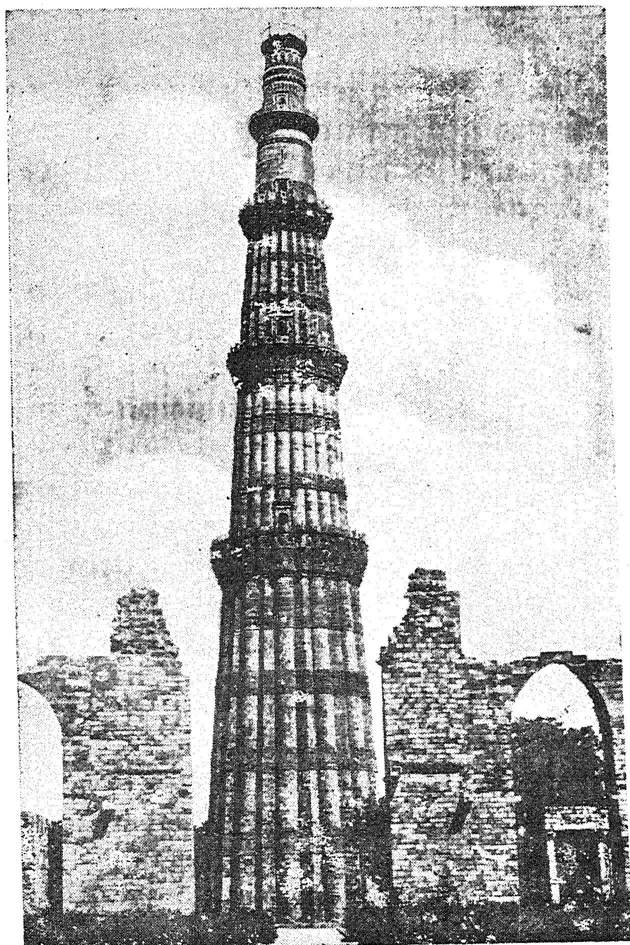
* देशोस्ति हरियानाख्यः पृथिव्यां स्वर्गसन्निभः।
ढिल्लिकाख्या पुरीतत्र तोमरैरस्ति निर्मिता॥

अवशेष हैं। इन्हें पृथ्वीराज चौहान के मन्दिर का अवशिष्ट भी कहते हैं।

उक्त प्रथम संस्कृति का इस नगरी में सबसे प्राचीन एवं प्रकृष्ट चिह्न यह लौह-स्तम्भ ही है। परन्तु यह स्तम्भ गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त (दूसरे) का निर्माण एवं स्थापित किया हुआ माना जाता है। और चन्द्रगुप्त का समय ३७५ से ४१३ ईसवी है। यदि यह ऐसा है तो पन्द्रह सौ वर्षों से अधिक समय से यह स्तम्भ वर्षा और गरमी के आघात सहते हुए ज्यों का त्यों खड़ा हुआ है। विशेषता यह कि इतने दिन में भी इसमें ज़ङ्ग कहीं छू तक नहीं गया है। अर्थात उस काल के हिन्दू ज़ङ्ग न लगनेवाला लोहा बनाना जानते थे, जो आज-कल कहीं नहीं बनता। यह स्तम्भ २५ .फुट लम्बा और १६ इञ्च मोटे व्यास का है। अनुमान किया जाता है कि इसका गुरुत्व साढ़े सत्रह टन होगा। इतने भारी लौह-स्तम्भ का ढालना आज-कल के यान्त्रिक समय में भी सरल नहीं है। किन्तु उस काल के हिन्दू यह सब सरलतापूर्वक कर लेते थे। भूमि के भीतर यह स्तम्भ केवल ३ .फुट गड़ा हुआ है, परन्तु उसमें पेड़ों की जड़ की तरह खपाचियाँ लगी हुई हैं, जिससे वह आज तक रत्ती भर भी किसी ओर नहीं झुका है। इसके ऊपरी भाग में अशोक की लाटों की भाँति ओप किया हुआ है और उस पर प्राचीन नागरी-लिपि में तीन श्लोक खुदे हुए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि 'चन्द्र' नाम के राजा ने यह 'विष्णुध्वज' स्थापित किया। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि यह 'चन्द्र' गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त दूसरा ही है। स्तम्भ के शिखर पर परगहा (कटावदार कङ्कण) बना हुआ है। अनुमान किया जाता है कि उस पर गरुड़ को मूर्ति रही होगी।

दूसरी (मुस्लिम) संस्कृति के उदाहरणों से तो दिल्ली भरी पड़ी है, किन्तु इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'कुतुब-स्तम्भ' है। यह लौह-स्तम्भ के समीप ही है; किन्तु न तो यह एक पत्थर का और न लोह का ही है। यह पत्थर और गारे से जोड़ाई (संयोग) करके भवनों की भाँति बना हुआ है। यह उसी प्रकार बना है, जिस प्रकार मसजिदों

के मीनार बनाये जाते हैं। इसी से इसे 'कुतुब मीनार' कहते हैं, किन्तु अन्य मीनारों से इसमें निम्नलिखित विशेषतायें हैं।



कुतुब मीनार

१—मीनार प्रायः मस्जिदों के पास उनके ऊँचे चबूतरे पर से प्रारम्भ होते हैं और दो या चार होते हैं, पर यह मस्जिद से दूर, केवल २ फ़ुट ऊँची कुर्सी पर और केवल अकेला ही खड़ा है।

२—मीनारों का दरवाजा पूर्वमुख होता है, पर इसका उत्तर-मुख है।

३—अन्य मीनारों से यह इतना अधिक गाव-दुम है कि पुरातत्व-वेत्ताओं का कथन है कि बिना असाधारण गणितज्ञता के ऐसा स्तम्भ बन ही नहीं सकता। रेखागणित के आधार से परीक्षा करके देखा गया है कि इसमें तीन खण्ड तक एक ही अनुपात से पत्थर लगाये गये हैं।

४—मीनार के पत्थरों में कमल, घण्टा और त्रिकोण हिन्दू-चिह्न मिलते हैं तथा इसके कुछ पत्थर इतनी गहराई तक कटे हुए हैं कि अनुमान होता है कि उनमें अङ्कित हिन्दू-चिह्नों के मिटाने के लिए ही वे इतना काटे गए हैं, अन्यथा अन्य पत्थरों की समानता में उन्हें इतना न कटना चाहिए था।

इन कारणों से इसके कम से कम ३ खण्ड हिन्दुओं के बनवाये हुए माने जाते हैं। किन्तु मीनार के प्रथम एवं दूसरे खण्ड के दरवाज़ों पर अरबी अक्षरों के लेख अङ्कित हैं और उनमें मुसलमान बादशाह अल्तमश, मुहम्मद गोरी एवं कुतुबुद्दीन ऐबक के नाम भी खुदे हुए हैं। परन्तु लेखों के पत्थर ऐसे भद्दे रूप से बैठाये गये हैं जिससे प्रमाणित होता है कि ये बाद को वहाँ के पत्थर उखाड़कर बैठाये गये हैं। सम्भव है, उन उखाड़े हुए पत्थरों में हिन्दू-चिह्न रहे हों।

इसके दो खण्ड बिजली के आघात से गिर गये थे, तब उन्हें फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ ने बनवाया था।

यह मीनार २३८ फ़ुट ऊँचा और पाँच खण्डों का है। इस पर अन्य मीनारों की भाँति छतरी नहीं है। नीचे भूमि में मीनार के पास ही एक छतरी है। पहले यह मीनार के सिर पर थी। कहा जाता है, किसी प्राकृतिक आघात से यह गिर गई है। ऊपर जाने के लिए इस मीनार में ३७५ सरल सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इन सीढ़ियों के पत्थरों में

भी एक विशेषता ज्ञात होती है और वह यह कि (यदि यह अल्तमश के समय की ही बनी हुई मान ली जाय तो) निरन्तर नित्य सैकड़ों पैर पड़ते रहने पर भी आज ७०८ वर्षों में भी वे बहुत कम घिसे हैं।

इस मीनार के उतार-चढ़ाव में वैज्ञानिकता के अतिरिक्त सुन्दरता भी है। इसकी गोलाई में गोले पहल हैं और प्रत्येक खण्ड में खड़े होने के लिए गैलरियाँ बनी हुई हैं। ये पहल और गैलरियाँ चुनावदार जामा और कमरबन्द की भाँति बहुत सुन्दर दिखाई देते हैं। इसके ऊपर से दिल्ली-प्रान्त का बहुत अच्छा विहङ्गावलोकन होता है।

क़ुतुब मीनार का निर्माण तो हिन्दू-संस्कृति पर ही हुआ, पर उसके बाद मुस्लिम संस्कृति का विस्तार होते-होते ११ मील उत्तर (वर्तमान दिल्ली) तक पहुँच गया। इसके बीच में मुस्लिम संस्कृति के अनेक अवशेष बिखरे पड़े हैं। ये अपने समय के वैभव एवं काल की गति का सुन्दर स्मरण दिलाते हैं।

यहीं ईसा की चौदहवीं शताब्दी में फ़ीरोज़शाह ने फ़ीरोज़ाबाद बसाया। उसका 'कोटला' यहाँ अब तक वर्तमान है। यह कोटला कोई क़िला नहीं, कोटला (कोटर) ही है। यह डाटदार बिना कमरों वाला एक कलाविहीन भवन है। फ़ीरोज़शाह अशोक की लाट पर इतना मुग्ध हुआ कि दिल्ली से ८० मील दूर अम्बाले में स्थित अशोक की लाट को उसने सयत्न उठवा मँगाया और बड़े आदर से उसे अपने दुमञ्ज़िले कोटले पर स्थापित किया। यह लाट जड़ में अँकवार भर मोटी है। ऊँचाई इसकी ४२ फ़ुट कही जाती है और गुरुत्व २७ टन अनुमान किया जाता है। इतनी भारी लाट को इतनी दूर सुरक्षित रूप से ले आने की कथा भी बड़ी मनोरञ्जक है।

मनों सेमल की रुई इकट्ठी की गई और लाट को खोदकर धीरे-धीरे उसी पर गिराया गया। फिर चमड़ा और बेंत लगाकर वह सिई गई। तब इसके लिए विशेष रूप से बनी हुई ४२ पहियों की गाड़ी पर उसे लादा गया और प्रत्येक पहिये में रस्सा लगाकर प्रत्येक रस्सा दो-दो सौ मनुष्यों से खिचवाते हुए कई दिन में फ़ीरोज़ाबाद के पूर्व यमुना किनारे ले आया गया वहाँ इसी के लिए विशेष रूप से बनी ४-५

हज़ार मन बोझ लादने वाली नावों पर उसे चढ़ाकर फ़ीरोज़ाबाद पहुँचाया गया इससे अनुमान किया जा सकता है कि अम्बाला से इस लाट को दिल्ली ले आने में कितना व्यय पड़ा होगा।

इस लाट की पालिश (ओप) आज २४ सौ वर्षों के बाद भी वैसी ही चमक रही है। पत्थर पर ऐसी पालिश की कला भारत की अपनी है और अब वह लुप्त हो चुकी है। इस ओप पर पाली-भाषा एवं प्राचीन नागरी-अक्षरों में अशोक की आज्ञाएँ उत्कीर्ण हैं। इस कोटले पर यह लाट बहुत भव्य दिखाई देती है और कोटला भी इसी के अर्थ बना हुआ जान पड़ता है; क्योंकि इसके निचले खण्ड भी किसी उपयोग के नहीं जान पड़ते। कोटले के नीचे एक मस्जिद का प्राङ्गण मात्र अवशिष्ट है। इसके पूर्व ओर के पत्थरों की बन्दिश की ऊँचाई से ज्ञात होता है कि फ़ीरोज़ाबाद कभी यमुना के किनारे था, पर अब तो यमुना वहाँ से मीलों पूर्व चली गई है।

कोटले से दक्षिण दिल्ली का पुराना क़िला है। इसे हुमायूँ ने बनवाना प्रारम्भ किया था, पर पूरा शेरशाह ने किया। हुमायूँ फिर लौटकर इसी क़िले के शेरमंज़िल नामक भवन की सीढ़ियों से सरक पड़ने से दिवङ्गत हुआ था। कहते हैं यह क़िला उसी स्थान पर बना है जहाँ पाण्डवों का क़िला था।

पुराने क़िले के बाद हुमायूँ का मकबरा एक उल्लेखनीय भवन है। यह अभी बिलकुल नया, ज्यों का त्यों, बना हुआ है। उस काल में मक़बरों के लिए इतने भवन बनवाने की प्रथा थी, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। मक़बरे क्या, इनका लम्बा-चौड़ा विस्तार एवं विशाल फाटक एक क़िले के समान है। यह कदाचित् इसलिए कि जो सदैव क़िले में रहे उनकी अस्थियाँ भी क़िले में ही रहनी चाहिए। अस्तु।

यह मक़बरा विशाल, किन्तु सीधा-सादा है। शेरशाह के क़िले एवं मक़बरे को हम मुसलमान कालीन भारतीय स्थापत्य-कला का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं; क्योंकि शाहजहाँ-कालीन भवनों की

विकसित स्थापत्य-कला के इनमें दर्शन नहीं होते। इस मक़बरे में संगमर्मर की बड़ी-बड़ी कलापूर्ण जालियाँ लगी हुई हैं। प्रायः मक़बरों के दरवाज़ों के तीनों ओर क़ुरान की आयतें लिखी होती हैं। वे इतनी वैज्ञानिक होती हैं कि नीचे (पास) और ऊँचे (दूर) के अक्षर एक समान ही दिखाई देते हैं। यह बात इस मक़बरे में भी है।

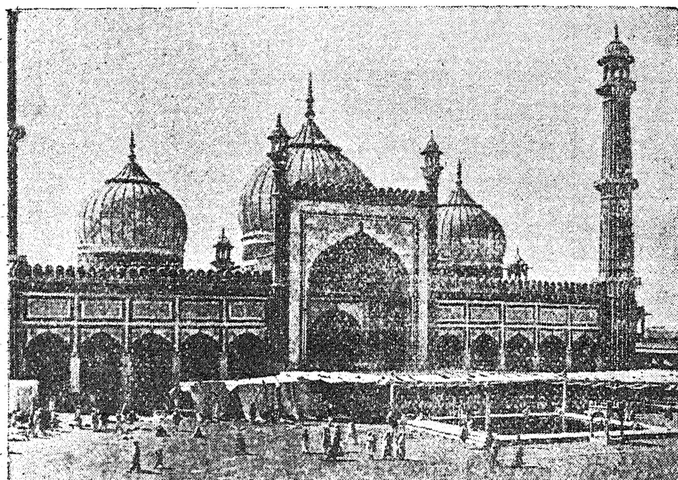
प्रायः देखा जाता है कि यदि किसी प्रसिद्ध पुरुष का मक़बरा बन गया तो उसके पीछे के प्राणियों की क़बरें भी उसी में बना दी जाती हैं। इसमें भी हुमायूँ की मुख्य क़बर के अतिरिक्त और बहुत-से शाही कुटुम्बवालों की क़बरें ठौर-कुठौर बना दी गई हैं। इनमें हुमायूँ की बीबी और क़त्ल किये हुए दारा की क़बरें भी हैं। इस मक़बरे का एक राजनैतिक इतिहास भी है। अन्तिम भारतीय सम्राट् बहादुरशाह को इसी मक़बरे से अँगरेज़ों ने कैद करके अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

इसके अतिरिक्त अवध के नवाब और दिल्ली के बादशाह अहमद-शाह (१५४८-५४ ई०) के प्रधान मन्त्री नवाब मन्सूर ख़ाँ उपनाम सफ़दरजङ्ग का मक़बरा इत्यादि भवन भी इसी संस्कृति के हैं, पर उनकी कला या इतिहास कोई उल्लेखनीय नहीं। सफ़दरजङ्ग के मक़बरे में ताजमहल की नक़ल की गई है, पर उसके पीछे का होने पर भी उसकी कला ताजमहल की कला को नहीं पा सकी है।

इसके अतिरिक्त अब शाहजहाँ के बनवाये भवन ही दूसरी संस्कृति की प्रधान वस्तु रह जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शाहजहाँ एक महान् स्थापत्य-कला-विशारद सम्राट् था। जैसे अकबर के समय में चित्र एवं संगीत-कला की उन्नति हुई, उसी प्रकार शाहजहाँ के समय में भवन-निर्माण-कला की उन्नति हुई। किन्तु अकबर के समय की चित्रकला एवं संगीत की उन्नति अकबर के पीछे भी देखी गई, पर शाहजहाँ के भवनों की विशेषता उसी के बनवाये भवनों तक सीमित रही है। वह उसके पीछे नहीं मिलती। यों तो शाहजहानाबाद (वर्तमान दिल्ली) का पुष्ट परकोटा और उसके फाटक भी उसी के

बनवाये हुए है, पर दिल्ली में उसका बनवाया किला एवं जामा मसजिद ही सर्वश्रेष्ठ भवन हैं।

जामा मसजिद को अपनी कुर्सी के लिए एक प्राकृतिक पहाड़ी टीला मिल गया है। इससे इस विशाल भवन की विशालता और बढ़ गई है। यह टीला इतना ऊँचा था कि २५ सीढ़ियों के ऊपर से भवन की नींव प्रारम्भ होती है। इसकी दीवार इतनी



जामा मसजिद

ऊँची है कि इसके दरवाज़ों पर मधुमक्खियाँ छत्ते बनाये रहती हैं, नीचे हज़ारों मनुष्यों के नित्य आने-जाने का उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता और चौड़ाई उसकी इतनी है कि उसके भीतर एक साधारण घर बन सकता है। इसके विशाल प्राङ्गण के चारों ओर सुन्दर भवन बने हुए हैं। उनमें पूर्व और दक्षिण की ओर विशाल दरवाज़े हैं। प्राङ्गण के मध्य में नमाज़ियों के हाथ-मुँह धोने के लिए संगमर्मर का एक बड़ा कुण्ड बना हुआ है और नमाज़ियों के बैठने के लिए लाल पत्थर (फ़र्श) पर श्वेत पत्थर की रेखाएँ खींचकर नौ सौ चौके बनाये गये हैं। अर्थात् इसके प्राङ्गण में नौ सौ नमाज़ी एक साथ

नमाज़ पढ़ सकते हैं। इसका प्रार्थना-गृह इतना विशाल है कि उसमें पहुँचते ही साधारण मनुष्य के हृदय में श्रद्धा और भक्ति एक साथ उत्पन्न होते हैं!

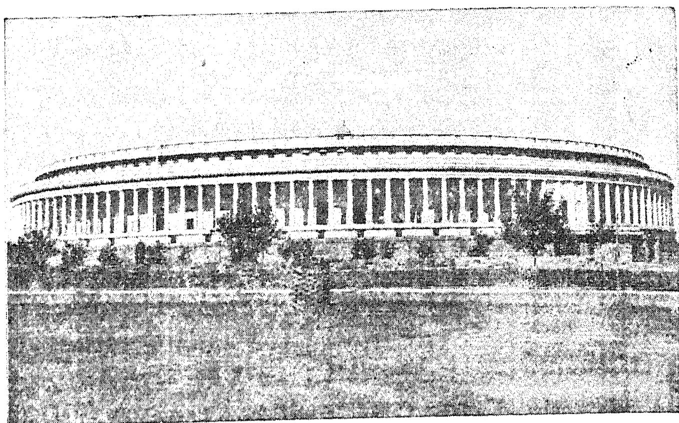
मस्जिद लाल पत्थर की बनी है और श्वेत पत्थर की उसमें रेखा (डोरी) खींची गई है। गुम्बद सङ्गमर्मर का है। इसके दो मीनार दुमंज़िले पर से प्रारम्भ होते हैं। इन पर से दिल्ली नगर का बहुत सुन्दर विहङ्गम दृश्य दिखाई देता है। यहाँ से क़ुतुब मीनार तक ११ मील में विस्तृत दिल्ली की इस दूसरी संस्कृति के दृश्य देखकर दर्शकों के मन में उनका एक अच्छा चित्र खिंच जाता है।

सारांश यह कि विशालता, भव्यता एवं दृढ़ता में यह भवन अनुपम है। इसमें यद्यपि जालियों एवं नक्क़ाशियों-द्वारा सुकुमार कला का प्रदर्शन नहीं किया गया है; किन्तु इसके प्रत्येक पार्श्व ही नहीं, प्रत्येक पत्थर की तुलनात्मकता में उसकी भव्यता एवं कला का प्रदर्शन है। और इसकी साधारणता-युक्त सुन्दरता, विशालता एवं दृढ़ता में ही इसकी कला निहित है। इसके निर्माण में उस समय दस लाख रुपया व्यय हुआ था।

इन इमारतों के सिवा दिल्ली की मुग़लकालीन इमारतों में सर्वश्रेष्ठ लाल क़िला है।

तीसरी संस्कृति जो अठारहवीं शताब्दी से यहाँ अपना रङ्ग जमाती है, बहुत दिनों तक दिल्ली को छोड़े रही, पर साम्राज्यों की राजधानी बनने की दिल्ली में कोई शक्ति-सी है। सन् १९१२ में वर्तमान राजधानी कलकत्ते से दिल्ली पहुँचाई गई। यहाँ वस्तु-विद्या-विशारद सम्राट् शाहजहाँ के खण्डहरों के आगे वर्तमान राजधानी के भवनों के बनाने की समस्या उपस्थित हुई और उस अवैज्ञानिक युग के भवनों के जोड़ के भवन बनवाने में इस वैज्ञानिक युग में भी प्रचुर धन व्यय किया गया। पुरानी दिल्ली के दक्षिण ड्यूक आफ़ कनाट के भारतागमन के स्मारक में 'कनाट सर्कस' नाम का विशाल गोला बाज़ार और उसके बीच में 'कनाट पैलेस, (दूब का मैदान), बाज़ार के दक्षिण डिब्बे के आकार

का कौंसिल-भवन तथा पहाड़ी टीले को काटकर उस पर वाइसराय-भवन एवं उसके सामने, दायें-बायें, गगनचुम्बी वाइसराय के दफ्तर



एसेम्बली भवन

दर्शनीय हैं। इनके विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वर्तमान समय के सुलभ सब साधनों से इनके निर्माण में सहायता ली गई है। वाइसराय-भवन के सामने पूर्व ओर प्रायः एक मील लम्बा राजमार्ग (किंग्स वे), उसके दोनों ओर पेड़, नहर और हरी घास के मैदान बहुत रम्य बनाये गये हैं। जहाँ यह सड़क समाप्त होती है, वहाँ एक विचित्र और विशाल दरवाजा खड़ा किया गया है। इसका नाम मेमोरियल गेट रक्खा गया है। इसमें भारत एवं अन्य अँगरेजी उपनिवेशों के विजय में काम आनेवालों के नाम खुदे हुए हैं। इसके ऊपर से नई दिल्ली का अच्छा दर्शन होता है। यहाँ से चारों ओर को बड़ी-बड़ी सुन्दर सड़कें निकाल कर उनके नाम तीनों संस्कृतियों के महापुरुषों के नामों पर (अशोक रोड, पृथ्वीराज-रोड, अकबर-रोड आदि) रख कर उनके एकीकरण का प्रयत्न-सा किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होगा कि दिल्ली की प्रथम संस्कृति का इस समय प्रायः नामशेष हो गया है, किन्तु लिखते हर्ष होता है कि

हमारे स्वनामधन्य बिड़ला-बन्धुओं ने उसका पुनरुद्धार किया है। आप लोगों ने प्रचुर धन व्यय करके नई दिल्ली के पश्चिम पहाड़ी भूमि को सुरम्य बनाकर लक्ष्मीनारायण के एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया है। यही नहीं, इस मन्दिर के साथ ही बुद्ध मन्दिर, देवी-मन्दिर एवं शिव-मन्दिर भी हैं। ये मन्दिर सब प्रकार से नये आदर्शों के अनुरूप बनवाये गये हैं। मन्दिरों की विशाल दीवारों में वैदिक काल के ऋषि-मुनियों से लेकर सन्त-काल तक के महात्माओं के सुन्दर चित्र और अक्षर सुन्दर सङ्गमर्मर की पट्टियों पर सुन्दरता और स्वच्छतापूर्वक अङ्कित हैं। इसके साथ ही एक धर्मशाला है जिसमें अच्छे होटलों के समान हिन्दू-यात्रियों के ठहरने का निश्शुल्क प्रबन्ध है। साथ ही बिड़लाजी की धर्मपत्नी द्वारा बनवाया विशाल गीता-प्रवचनहाल है। मन्दिर के पीछे व्यायामशाला, योगासनशाला, गुफा, गङ्गा-मूर्ति एवं हिन्दू सम्राटों की मूर्तियाँ बनवाकर हिन्दू-संस्कृति पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इस आदर्श कार्य के लिए बिड़ला-बन्धुओं की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

—भानुसिंह बाघेल

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.